श्रीमत्सुरेश्वराचार्यकृता

नैष्कर्म्यसिद्धिः

श्री दक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन
वाराणसी

श्रीदक्षिणामूर्तिसंस्कृतग्रन्थमाला- १५

श्रीमत्सुरेश्वराचार्यकृता

नैष्कर्म्यसिद्धिः

श्रीचित्सुखाचार्यकृता

भावतत्त्वप्रकाशिका

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ

श्री १०८ स्वामी महेशानन्द गिरि जी

महाराज आचार्य महामण्डलेश्वर

के निर्देशानुसार

श्री स्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वती

द्वारा सानुवाद सम्पादित

प्रकाशक

श्री दक्षिणामूर्ति मठ, प्रकाशन

वाराणसी

प्रकाशक —
श्री दक्षिणामूर्ति मठ, प्रकाशन
डी. ४९/९, मिश्रपोखरा
वाराणसी-२२१०१०

❑

प्रथम संस्करण : भगवत्पादाब्द १२०८
वैक्रमाब्द २०५३
खैष्टाब्द १९९६
द्वितीय संस्करण : वैक्रमाब्द २०६६

❑

© सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

❑

मूल्य : २००.०० (रुपये दो सौ मात्र)

❑

मुद्रक —
श्रीजी प्रिण्टर्स
नाटी ईमली, वाराणसी

भूमिका

बौद्ध धर्म के ह्रास का कारण उनके दर्शन का अन्तर्विरोध एवं उससे प्रसूत धार्मिक अराजकता थी, जिसमें नैतिकता व आध्यात्मिकता दोनों का नाश हो गया था। आचार्य कुमारिल व शंकरभगवत्पाद ने वैदिक धर्म के पुनरुत्थान में इस कमी को न आने देने का अथक व प्रशंसनीय कार्य किया था। उन्हीं के प्रयास से भारत ने पुनः अपने नष्ट गौरव को प्राप्त किया था। नायनार व आलवारों ने जो ध्यान एकेश्वरवाद की ओर दिलाया था शंकर ने उसे भी पुष्ट किया एवं उसके भावनात्मक पक्ष को वेदान्त की पृष्ठभूमि भी प्रदान की। यह कार्य अद्वैत की पृष्ठभूमि पर सम्पन्न किया गया व आज १२०० वर्ष बाद भी यह नींव किसी भी विदेशी दर्शन व धर्म से हिलाई नहीं जा सकी है।

बुद्ध के जीवनकाल में ही देवदत्त आदि बौद्धों ने अनेक फिरकों की ओर बढ़ने का प्रयास किया था किन्तु बुद्ध के व्यक्तित्व के सामने वे टिक नहीं सके थे। परन्तु व्यक्ति के जाने के साथ ही वे प्रवृत्तियाँ बढ़ने लगीं। राजगृह के प्रथम सम्मेलन में **थेरवाद** ने जोर पकड़ा तो द्वितीय वैशाली सम्मेलन में पुनः विनयपिटक पर बहस छिड़ गई। स्थविरों ने विरोध करके यद्यपि पुनः थेरवाद को दृढ करने का प्रयास किया परन्तु बीच के १०० वर्षों में **महासंघियों** की संख्या काफी बढ़ चुकी थी। अब उन्होंने महासंगीति सम्मेलन करके अपना स्वतन्त्र अस्तित्व कायम किया जिसके बारे में स्थविरों का दृष्टिकोण दीपवंश में स्पष्ट किया गया है। दीपवंश के अनुसार महासंघियों ने बुद्ध के सन्देश की आत्मा का हनन करके निकायों के सिद्धान्त व उपदेशों को नष्टप्राय करके धर्म व प्राचीन शास्त्रों को उलट दिया। बुद्धत्व के बारे में दोनों में प्रबल मतभेद था। **स्थविरवाद** के अनुसार विनय की दृढ अनुपालना से बुद्धत्व की प्राप्ति होती है जो एक नवीन गुण है। महासंघियों के अनुसार प्रत्येक जीव में यह स्वभाव से है एवं उसके व्यक्तीकरण के द्वारा तथागतभाव को प्रकट किया जा सकता है। लंका का बौद्ध धर्म स्थविरों का वंशज है तो तिब्बत का महासंघियों का वंशज। द्वितीय शताब्दी ख्रीष्टाब्द में ही बौद्धों के १८ मान्य फिरके बन चुके थे एवं उनमें से प्रत्येक अपने को वास्तविक बुद्धानुयायी घोषित करते थे। अशोक ने बुद्ध के २५० वर्ष बाद हिन्दुओं के एक मतवाद

को स्वतन्त्र विश्वधर्म का रूप प्रदान करके अण्टियोकस द्वितीय के राज्य सीरिया में, टोलेमी द्वितीय के राज्य मिश्र में, एण्टिगोनस गोनाटेस के राज्य मेसिडोनिया (ग्रीस) व सिकन्दर द्वितीय के एपिरस में अपने प्रचारक भेजे थे। काबुल से गंगासागर व हिमालय से विन्ध्य तक तो उसका अपना ही राज्य था। तृतीय शताब्दी में कश्मीर व लंका में प्रविष्ट होकर नेपाल, तिब्बत, चीन, जापान, मंगोल आदि में बुद्ध धर्म का शनैःशनैः फैलाव हुआ। परन्तु इसी फैलाव ने फिरकों को प्रश्रय देकर बौद्ध धर्म की नींव को कमजोर कर दिया। नये बौद्ध बुद्ध की थाती से परिचित नहीं थे। बौद्ध धर्म की स्वीकृति उनकी अपनी परम्पराओं की मान्यता के आधार पर ही हो सकती थी। अतः यह प्रत्येक देश में अलग-अलग रूपों को धारण करता गया। बुद्ध के व्यक्तित्व को अन्धविश्वास व जादूगरी से ढाँक दिया गया।

आचार्य शंकर ने इन सब चीजों को भली प्रकार समझा था, व सनातन धर्म के पुनरुद्धार में उन्होंने यथासंभव इनसे बचने का प्रयास किया। बुद्ध ने अपने दार्शनिक आधार को सुस्पष्ट करने का प्रयास नहीं किया था। जीवन के व्यावहारिक पक्ष पर ही उन्होंने अपना ध्यान केन्द्रित किया था। अतः उनके जाने के बाद "आत्मदीपो भव" का उनका सन्देश फिरके बनाने में उपयुक्त हुआ। बुद्ध की मान्यता थी कि दार्शनिक विवादों में पड़कर साधक साधना को गौण कर देता है। पर उनकी दृष्टि इस बात पर नहीं गई कि उनके अभाव में प्रत्येक विनय किसी दार्शनिक दृष्टि से ही संगत किया जा सकता है, एवं दार्शनिक भेद अन्ततोगत्वा व्यवहारभेद में प्रतिफलित होकर विनय को भ्रष्ट कर देगा। शंकर भगवत्पाद ने इसीलिये अपने दार्शनिक पक्ष को सर्वथा सुस्पष्ट करने का प्रयत्न किया एवं विनय को उसी के आधार पर प्रतिष्ठित किया। अपने व्यक्तित्व को उन्होंने सर्वथा गौण रखकर बुद्ध के व्यक्तित्व की जगह अद्वैत दर्शन के व्यक्तित्व को उजागर किया। आज बारह शताब्दी के बाद भी शंकर के विचारों को समझने में हमें कोई कठिनाई नहीं होती, जबकि बुद्ध के साक्षात् अनुयायियों के जाने के बाद १०० वर्षों में ही बुद्ध के विचार धूमिल हो उठे थे। न केवल स्वयं, वरन् अपने शिष्यों को भी उन्होंने इसी प्रकार दार्शनिक पक्ष को सुस्पष्ट करने का आदेश दिया। इसी प्रवाह में उनके प्रधान शिष्यों ने ग्रन्थरचना की। सुरेश्वराचार्य उनके प्रधान शिष्यों में अन्यतम थे। उनके द्वारा अपने विशालतम उपनिषद्भाष्य पर विस्तृत विचार बृहदारण्यकभाष्यवार्तिक के द्वारा करवाया तो दूसरे शिष्य पद्मपाद के द्वारा ब्रह्मसूत्र की टीका लिखवाई। यह पद्धति आज तक चल रही है। वेदान्तानुयायी सभी विषयों पर दर्शन की भित्ति को अक्षुण्ण रख कर ही विचार करता है। आज के वैज्ञानिक विचार के युग

में इसी वजह से उसे सर्वत्र सफलता मिलती है। वह विज्ञान के अनुरूप वेदान्त को नहीं, वरन् अपने वेदान्त के अनुरूप विज्ञान को ढालने में समर्थ है।

दार्शनिक पक्ष सरल रूप से समझाने के लिये स्वयं श्री शंकर ने अनेक सरल प्रकरण ग्रन्थों की रचना की, एवं उनके शिष्य प्रशिष्य भी इस विधा का अवलम्बन करते रहे। उपदेशसाहस्री उनके ऐसे ग्रन्थों में श्रेष्ठ है। सुरेश्वराचार्य को भी उन्होंने सर्वप्रथम ऐसा प्रकरण ग्रन्थ लिखने में प्रवृत्त किया। कहा जाता है कि सुरेश्वराचार्य अपने पूर्वाश्रम में विशिष्ट मीमांसक थे। अतः कई लोग उनके परिवर्त्तन को सन्देह की दृष्टि से देखते थे। ऐसे लोगों का संदेह निवारण करने के लिये उन्हें प्रवृत्त किया गया। उन्होंने अपने ग्रन्थ का नामकरण **नैष्कर्म्यसिद्धि** करके अपनी पूर्व मान्यताओं का समापन द्योतित किया। ग्रन्थ में प्रधानतः पूर्वमीमांसा का ही खण्डन परिलक्षित होता है। ब्रह्मसूत्रभाष्य में सांख्य ही प्रधानमल्ल है। इस ग्रन्थ में सांख्य को प्रधानमल्ल न मानकर कर्मकाण्ड को ही प्रधानमल्ल माना गया है। परन्तु वेदान्तदर्शन का अत्युत्तम प्रक्रियाग्रन्थ भी इसे मानना पड़ता है। **उपदेशसाहस्री, नैष्कर्म्यसिद्धि** व **संक्षेपशारीरक** का त्रैत अत्यन्त प्रसिद्ध है। गुरु की प्रेरणा से ग्रन्थ लिखा गया है इस बात को ग्रन्थ में स्पष्टतः 'वक्ष्ये गुर्वनुशिक्षया' से बताया है। ग्रन्थ के द्वारा उसमें प्रतिपादित ज्ञान सम्यक् है या नहीं इसकी परीक्षा ब्रह्मवेत्ता कर सकते हैं 'स्वबोधपरिशुद्ध्यर्थं ब्रह्मविन्निकषाश्मसु।' 'मा भूदत्र विरोधिनी मतिरतः सद्भिः परीक्ष्यं बुधैः' में सूक्ष्म संकेत है कि उनके बारे में लोगों में विरोधी भाव था। अतः 'संसेव्य लब्ध्वा' से स्पष्ट किया कि गुरुचरणों की सेवा के पूर्व सभी को अज्ञान रहता है, अतः सभी को ज्ञान के पश्चात् ही परखा जाना चाहिये।

इन्हीं सब बातों को शंकरदिग्विजयों में साहित्यिक विधा से उपस्थापित किया गया है। सुरेश्वराचार्य के समय तक गौडपंचक व द्राविडपंचक ब्राह्मणों का भेद सुनिश्चित हो चुका था। स्कन्दपुराण में 'कर्णाटाश्चैव तैलङ्गा गुर्जरा राष्ट्रवासिनः। आन्ध्राश्च द्राविडाः पञ्च विन्ध्यदक्षिणवासिनः॥' कहकर तामिलनाडु, जिसका अंग वर्तमान केरल भी था, आन्ध्र, गुजरात, मराठी व त्रिलिंग या तेलंगाना के ब्राह्मणों को पंचद्राविडों के अन्तर्भूत किया है। चित्सुखाचार्य के समय केरल देश प्रसिद्ध था अतः उन्होंने स्पष्टतः 'केरलानामपि द्रविडत्वप्रसिद्धेः' कहा है। प्रकाशित चन्द्रिका टीका में 'केवलानामपि द्रविडत्वप्रसिद्धेः' मिलता है जो सम्भवतः लिपिकार की अशुद्धि है। विल्सन के विष्णुपुराण खण्ड २ पृष्ठ १६५ में भी इसी भ्रम से केवल व केरल को पाठभेद मान लिया है। 'सारस्वताः कान्यकुब्जाः गौडा उत्कलमैथिलाः। गौडा पञ्च समाख्याता

विन्ध्यस्योत्तरवासिनः।।' से पंचगौडों को निर्दिष्ट किया गया है। इनमें से प्रत्येक गौड होने से केवल बंगाली ही गौड कहे जावें यह नियम नहीं बनता। प्रसिद्ध गौड ब्राह्मण भी पश्चिमी उत्तर प्रदेश तथा हरियाणा व पूर्व राजस्थान में ही पाये जाते हैं। बद्रीनारायण के आगे गौडपादशिला आज भी मिलती है जहाँ कारिका का प्रणयन किया गया। सुरेश्वराचार्य ने दशविध ब्राह्मणों की परम्परा अद्वैतपरक है यह सर्वविप्रसमन्वय के मार्ग से कहा है। विशेषत: वे स्वयं गौड व उनके गुरु द्रविड थे। परवर्त्ती काल में वैष्णवों के सभी आलवार, रामानुज, मध्व व अन्य आचार्य द्रविड ही थे एवं उनके अनुयायी भी गौडों में नहीं हो पाये। अत: सर्वविप्रस्वीकृत तो केवलाद्वैतवाद आज भी है। इस भेद का बीज ही माधव आदि ने अपने दिग्विजयों में काव्यात्मक रूपक से प्रतिपादित किया है। पद्मपाद द्रविड थे व सुरेश्वर गौड। किसी किसी ने तो अद्वैत को गौडादि-गौडान्त दर्शन कहा है क्योंकि गौडपाद से गौड ब्रह्मानन्द तक अद्वैत है। दूसरों ने द्रविडाचार्य से शङ्कर पर्यन्त औपनिषद मत को द्रविडादि-द्रविडान्त सिद्धान्त भी कहा है। द्रविडान्त से कुछ लोग सूत्रभाष्यवार्तिककार अभिनव द्राविडाचार्य बालकृष्णानन्द सरस्वती का ग्रहण करते हैं। इस प्रकार यही एकमात्र सार्वभौम सिद्धान्त कहा जा सकता है। द्रविड़ों से सुरेश्वर को धोखा अवश्य मिला था क्योंकि अस्थिरता में उन्होंने "द्रविडेष्विवसंगतम्" (३.९३) द्रविडों की मित्रता को दृष्टान्त बनाया है। यह रोष बृहदारण्यक वार्त्तिक में शान्त हो गया था। अत: वहाँ इसी श्लोक की 'पण्यस्त्रीगमनं यथा' वेश्या के प्रेम के दृष्टान्त से पूर्ण किया है। उत्तमों का क्रोध जल की लकीर की तरह होता है, न कि मूर्खों के क्रोध की तरह पत्थर की लकीर।

नैष्कर्म्यसिद्धि पर सर्वप्रथम स्वयं सुरेश्वर ने सम्बन्धोक्ति लिखी। यद्यपि 'प्रतिश्लोकं उदाहृता' कहा है फिर भी इसे प्रायोवाद ही मानना चाहिये क्योंकि अनेक श्लोकों में उसका अभाव है। वर्त्तमान टीका **भावतत्त्वप्रकाशिका** वादप्रस्थान के अप्रतिम प्रतिभाधनी आचार्य **चित्सुख** की रचना है। इत: पूर्व छपी हुई **ज्ञानोत्तम** की **चन्द्रिका** का मूल यही है, यद्यपि वह इसकी अपेक्षा अधिक विस्तृत व सरल है। वेदान्तदेशिका ने अपनी सर्वार्थसिद्धि (पृ. ३१३.१५) में चित्सुख को विषय बनाया है अत: १३५० ख्रीष्टाब्द से पूर्व चित्सुख वेदान्त के प्रामाणिक विद्वान् के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे यह निश्चित है। पंजाब में अमृतसर के वासी वसिष्ठगोत्रोत्पन्न श्रीजस्पति के पौत्र तथा वजीरचन्द्र के पुत्र **रामदत्त** ने **सारार्थ** नामक विस्तृत टीका लिखी है। प्राध्यापक हिरयण्णा को यह मैसूर के धर्माधिकारी वेंकटाचलशास्त्री से उपलब्ध हुई थी। यह अतिविस्तृत व्याख्या है। उत्तमामृत के शिष्य **ज्ञानामृत** की **विद्यासुरभि** भी विस्तृत

व्याख्या है, पर उतनी उपादेय नहीं है। दशरथप्रिय के शिष्य **अखिलात्मा** का **विवरण** भी संक्षिप्त, पर स्थलविशेषों में विशेष प्रकाश डालने वाला व्याख्यान है। कर्नल जैकब व हिरयण्णा का चन्द्रिका संस्करण ही अभी तक मुद्रित हुआ है। श्रीरामकृष्ण मिशन ने इसका आंग्लानुवाद तथा भार्गव पुस्तकालय ने हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया है। अन्य भारतीय भाषाओं में भी इसका अनुवाद हुआ है।

४२३ श्लोकों के अत्यल्प कलेवर में समग्रवेदान्त को प्रकट करना इस ग्रन्थ का वैशिष्ट्य है। इसके ३६ श्लोक बृहदारण्यक भाष्यवार्तिक में भी हैं। प्राय: १८ श्लोक उपदेशसाहस्री में से उद्धृत हैं। जिनमें सर्वाधिक १३ तो अठारहवें प्रकरण से लिये गये हैं। ब्रह्मसूत्र व कारिका से प्रारब्ध चतुरध्यायी परम्परा यहाँ भी निभाई गई है। ग्रन्थ को स्वयं ग्रन्थकार 'अशेष-वेदान्त-सार-संग्रह-प्रकरण' (पृ. ८) कहते हैं। किसी भी दर्शन में बृहत्तम रचना करने वाले बारह हजार श्लोकों के बृहदारण्यक-भाष्यवार्तिककार का यह ग्रन्थ संग्रह रूप होने पर भी सिद्धान्त को गागर में सागर की तरह भर देता है। शैली रुचिकर है एवं युक्ति से भरी हुई है। स्पष्टार्थता के लिये न उपनिषदों में पुनरावृत्ति के प्रति रुचि का अभाव है, न गौडपाद, शंकर व सुरेश्वर में। वे स्वयं कहते हैं 'पुनरुच्यते' (पृ. २६६)। अनुवादक ने इस पर लघुचंद्रिका उद्धृत कर इसकी आवश्यकता को स्फुट किया है। संस्कृत उनकी सहज मातृभाषा होने से वे प्रचलित भाषा का प्रयोग अधिक करते हैं। अत: पाणिनि के विरुद्ध अनेक प्रयोग उन लोगों को खटक सकते हैं जो केवल व्याकरण के बल पर संस्कृत को जानते हैं। पर यह उनके भाषाधिकार का द्योतन करता है। नियम है कि जो भाषा पर अधिकार रखते हैं वे व्याकरण के गुलाम नहीं रहते। उनके **मानसोल्लास** का प्रथम संस्करण निकालने पर काशी के एक विद्वान् ने उसमें व्याकरण की भूलें निकालीं क्योंकि उन्होंने सोचा यह किसी आधुनिक की रचना है। पर लेखक का नाम पता लगते ही वे अत्यधिक शर्मिन्दा हो गये।

चित्सुखाचार्य के विषय में तो सभी वेदान्तरसिक जानते हैं। वे श्रीदक्षिणामूर्ति सम्प्रदाय के परमहंस थे अत: अपने ग्रन्थों में दक्षिणामूर्ति स्मरणरूप मंगल अवश्य करते हैं। 'ज्योतिर्यद्दक्षिणामूर्ति.' यहाँ की तरह तत्त्वप्रदीपिका, भाष्यभावप्रकाशिका आदि सभी में मिलता है। इनकी टीकाओं के नामों में दीप, प्रकाश आदि शब्द मिलते ही हैं। यहाँ भी **भावतत्त्वप्रकाशिका** नाम दिया गया है। यह ग्रन्थव्याख्या भाष्यभावप्रकाशिका शैली की है। नव्यन्याय की शब्दावली का इसमें अतिन्यून प्रयोग है। परन्तु ग्रन्थ को स्पष्ट करना और वह भी अत्यल्प शब्दों में, इसकी विशेषता है। ग्रन्थ सम्प्रदायानुसार व्याख्यात है 'पूर्वाचार्यवचानुगा' (पृ. २)। अत: सारावली में उक्त प्रकार सरल होने पर

भी अन्त:करण में आभासोदय के द्वारा आभासवाद स्वीकार करना ही उचित है। 'अन्त:करणाभासोदयात् स्फुटतरव्यवहारयोग्यत्वे सति' (पृ. १२)।

स्वामी प्रज्ञानानन्द वेदान्त के मनन करनेवाले विद्वान् हैं। आपने प्रसिद्ध स. सुब्रह्मण्यशास्त्री पंडितराजजी से वेदान्त के अनेक ग्रन्थों का अध्ययन किया व इस ग्रन्थ के अनुवाद में भी शास्त्री जी का सहयोग रहा। यह उन्होंने पी-एच.डी. के लिए चुना था। अनुवाद व टिप्पणी में चन्द्रिका के पाठ भी देकर अस्पष्ट स्थलों को स्पष्ट किया है। कई स्थल सामान्य वेदान्तविद्यार्थी भी समझ सके इस प्रकार लिखे गये हैं। स्वामी सच्चिदानन्द के विचार सम्प्रदायविरुद्ध जहाँ हैं वहाँ उनका युक्तिपूर्ण खण्डन भी किया है। पृ. ८ में अज्ञान की भावरूपता का जो निषेध सच्चिदानन्देन्द्रजी ने किया है उसका समुचित उत्तर दिया है। अज्ञान को अनर्थ का कारण भी मानना, उसका उच्छेद भी मानना (क्लेशापहारिणी पृ. ९) व फिर भी उसे अभाव मानना कैसे संगत हो सकता है!

यदि मीमांसा स्वर्ग को ही कर्म का फल मानती तो वेदान्त के साथ उसका विरोध भी न होता और उभय मीमांसा की एकशास्त्रता भी किसी प्रकार बन जाती, यद्यपि अधिकारी, विषय, प्रयोजन व फल चारों का भेद होने से कल्पना में क्लिष्टता तो होती ही। परन्तु योगसूत्र में सिद्धियों की स्थिति की तरह इसे कर भी सकते थे। परन्तु मीमांसा कर्म से मोक्ष स्वीकारती है। काम्य कर्मों के न करने से स्वर्ग आदि पारलौकिक सुख के लिये जन्म न होगा और प्रतिषिद्ध का त्याग करने से नरक आदि दु:खों के भोगों के लिए भी जन्म न होगा। नित्य, नैमित्तिक कर्मों को यथावत् करने से प्रत्यवाय भी न होगा। इस प्रकार जन्ममृत्यु का निरोध हो जाना रूप मोक्ष प्राप्त हो जायगा। सुरेश्वर इस मत का ऊहापोह से खण्डन करते हैं। जन्ममृत्यु प्रवाह का कारण तो वे भी कर्म को मानते हैं, परन्तु कर्म के कारणों पर विस्तृत विचार करते हैं। मीमांसा कर्म-प्रवृत्ति का कारण जीव का स्वातन्त्र्य मानती है। सुरेश्वर बताते हैं कि यह स्वातन्त्र्य व्यावहारिक है, वास्तविक नहीं क्योंकि जीव की वास्तविकता तो शुद्ध शिव है और कर्त्ता अविद्या से बुद्धि, इन्द्रिय व देह को अपने से एक अनुभव करने वाला है। इस प्रकार का स्वातन्त्र्य अन्त:करण व उसकी वासनाओं से अभिन्न होने पर ही है। यह अविद्या-प्रसूत अभेद न मिटने पर कर्म से बचा नहीं जा सकता एवं इस अविद्या की निवृत्ति होकर शिवरूप होने पर उस रूप में कभी वास्तविक कर्तृता नहीं रह सकती। इस शिवात्म-ज्ञान से ही कर्त्तारूप का बाध होकर संचित कर्म समाप्त हो सकते हैं। नित्य कर्म भी कर्म होने से अविद्या काल में ही संभव है। किं च कर्म में श्रद्धा वाला ही अधिकारी होता है, अत:

अपने देह, बुद्धि आदि रूप से विवेक होने के बाद इनसे भेद का अनुभव न होने पर भी, अभेद में श्रद्धा नहीं रह जाती। अत: नित्य कर्म भी व्यर्थ हो जाते है। तब निवृत्ति व श्रवण आदि जो शिव का निश्चय कराने वाले हैं वे ही कर्त्तव्य होने से विविदिषा संन्यास की सिद्धि हो जाती है। नैष्कर्म्य व संन्यास तो एक ही अवस्था के द्योतक हैं।

बृहदारण्यक भाष्य में शंकर स्पष्ट करते हैं कि देहभिन्न आत्मा या परलोकगामी आत्मा प्रत्यक्ष व अनुमान आदि प्रमाणों से सिद्ध नहीं होता, उनसे संभावित मात्र हो सकता है। शास्त्र ही इसमें एकमात्र प्रमाण है। अत: आत्मा के स्वरूप का निश्चय शास्त्र से ही संभव है एवं वह इसे अकर्ता, अभोक्ता, व्यापक आदि बताता है। अज्ञान से होने वाले अध्यास से अहंकार का कर्तृत्व आत्मा में अभिन्न रूप से प्रतीत होता है एवं कर्मकाण्ड उसी का अनुवाद करके कर्म का विधान करता है। अत: जैमिनि ने आत्मा का विचार नहीं किया। आज भी अधिकतर लोगों की जिज्ञासा होती है कि हम क्या करें? बहुत कम ही जिज्ञासा करते हैं कि हम कौन हैं? अत: जितना लोग आत्मज्ञान के फल के बारे में जानना चाहते हैं, आत्मज्ञान के बाद जगत्प्रतीति का क्या स्वरूप है इसको जानना चाहते हैं, उतना आत्मस्वरूप को नहीं। इसीलिए प्रभाकर आदि का कथन है कि क्रियान्वित वाक्य या पदार्थ का ज्ञान ही संभव है एवं आत्मा तथा ब्रह्म की एकता का 'ध्यान करो' इस क्रिया के साथ सम्बन्ध होने पर ही श्रुति का अर्थ बनेगा। वेदान्त शुद्ध पदार्थ या वाक्यार्थ का ज्ञान भी शब्द से संभव बताता है। चूँकि यह इस ज्ञान को स्वीकारता है अत: वह वेदान्त के निकटवर्ती माना गया है। वाक्य से अकर्तृत्वात्मता का ज्ञान होने पर फिर कर्माधिकार जों कर्तृत्वाभिमान प्रयुक्त था, रह ही कैसे सकता है— इस विषय में ब्रह्मदत्त वा मण्डन का मत भी (१.६७) समीक्षित है। यह मत सम्बन्ध-वार्तिक में विशेष विवेचित है। पृ. ३७८ में टिप्पणीकार ने जिस पाठ का मूल में संकेत दिया है वह कहाँ मुद्रित है यह अन्वेषणीय है। ४.२४ के अनुवाद में अनुवादक ने सच्चिदानन्देन्द्र जी का उपयुक्त निराकरण किया है। शंकरप्रक्रिया की उद्घोषणा शंकर के ग्रन्थ का पूर्वापरालोचन के बिना किया गया है यह यहाँ स्पष्ट हो जाता है। ४.४१ में भी भावरूप अविद्या है, अभावरूप नहीं इस मूलाविद्यानिरासकार के मत का सुन्दर निराकरण है। अन्यत्र सुरेश्वर ने 'अविद्या प्रथते मौली व्यक्ताव्यक्तात्मनाखिलम्' (बृ.वा. १.२.१३६) कहकर स्पष्ट मूलाविद्या को कहा है। सत्सम्प्रदाय में सदेवेति वाक्य से स्फुटतरा प्रमा स्वीकारी है (४.३३)। अत: ज्ञानोत्तर स्वरूपस्थिति ही रहती है। निवृत्ति आत्मा का स्वरूप है अत: वही प्रकट होती है। (४.६१) नाम आदि सनत्कुमारप्रतिपादित एवं अन्नमयादि वरुणप्रतिपादित उपाधियों को छोड़ने पर भी

महावाक्य ज्ञानोत्पत्ति न कर सकें तो उन्हें व्यर्थ ही मानना पड़ेगा। (३.१२२) अभाव का विस्तृत विचार आनन्दगिरि व चित्सुख के प्रकाश में अनुवादक स्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वती जी का इस ग्रन्थ में विशेष उपादेय स्थल है (२.११४) क्योंकि किसी भी अन्य टीका में इसे स्पष्ट नहीं किया गया है। इसी प्रकार २.११७ में विद्वान् अनुवादक ने गुरुशिष्य इत्यादि को प्रातिभासिक मानना सुरेश्वर प्रस्थानानुकूल नहीं है यह हृद्यप्रकारेण प्रतिपादित किया है। इसी प्रकार २.१०८ में साक्षी का विस्तृत विवेचन है जो एकत्र प्राप्त होना कठिन है। इसी प्रकार २.९० में सच्चिदानन्द जी के व्याख्यान में अनुवादक ने चन्द्रिका व्याख्यान में प्रदर्शित दूषण का सदुद्धार कर सम्प्रदायसिद्ध अर्थ को स्पष्ट कर दिया है। इसी प्रकार २.८५ के "तार्किकश्वभि:" को युक्तिभक्ति में लगाकर मनोहर अर्थ कर दिया है। २.८० का अर्थ—दण्ड से युक्त दण्डी को दण्ड द्वारा ही जानता है। इसी प्रकार सुख से युक्त बुद्धि को उससे वियुक्त होकर ही साक्षी जानता है तथा सुख के द्वारा प्रतिबिम्ब को सुखी भी जानता है—अधिक संभव है। २.६९ में सांख्य व बौद्ध से भेद भी अत्यन्त सुन्दर रूप से अनुवाद में उपस्थापित किया गया है। यहाँ सच्चिदानन्दजी ने भी विश्लेषण किया है एवं प्रज्ञानानन्द जी उनसे उपकृत भी हैं। २.६० में तर्क को अप्रतिष्ठित करके भी अनुभवशरणतारूपी युक्ति से भी वेदान्त की सिद्धि सिद्धिकार ने की है यह अनुवाद में स्पष्ट किया है।

इस प्रकार अनुवादक विद्वान् ने न केवल ग्रन्थ को सर्वसुलभ भाषा में उपस्थित किया है वरन् अनेक स्थलों पर अपनी बोधचन्द्रिका के प्रकाश से दीप्त भी किया है। वेदान्त में वे इस प्रकार अन्य ग्रन्थों पर भी विचार करके जनसामान्य का उपकार करेंगे ऐसी आशा है। हमारे वे अपने प्रिय हैं अत: उनकी सर्वविध स्वस्थता व उन्नति के लिए भगवान् दक्षिणामूर्ति से प्रार्थना ही कर सकते हैं।

ग्रन्थ के सुन्दर व शीघ्र प्रकाशन के लिये डिवाइन प्रिण्टर्स के कार्यकर्ताओं को आशीर्वाद है। विशेष, मद्रास विश्वविद्यालय से चित्सुखाचार्य की टीका की मातृका का भाचित्र प्राप्त हुआ जिसके लिए दक्षिणामूर्ति मठ उनका अधमर्ण है।

धनुसंक्रान्ति २०५२
श्रीदक्षिणामूर्त्ति मठ

भगवत्पादीयो
महेशानन्द गिरिः

द्वितीय संस्करण का वक्तव्य

आचार्य श्रीसुरेश्वर की स्वतन्त्र रचना नैष्कर्म्यसिद्धि अद्वैत जगत् में अत्यन्त प्रतिष्ठित आकर ग्रन्थ रहा है। अनेक टीकाओं से मण्डित यह प्रकरण आचार्य चित्सुखमुनिकी प्रथम बार मुद्रित भावतत्त्वप्रकाशिका व्याख्या सहित तेरह वर्ष पूर्व श्रीदक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन द्वारा प्रकाशित किया गया था। साथ ही उसमें विस्तृत हिन्दी व्याख्यान भी था। यों दो टीकाओं से युक्त वह संस्करण अतिशीघ्र समाप्त हो गया। नये संस्करण की आवश्यकता होने पर यह निर्णय किया गया कि संस्कृत टीका में हस्तलेख की कमियों के कारण आयी दुरूहता को चन्द्रिका टीका की सहायता से यथासम्भव दूर किया जाये। चन्द्रिका पूर्णत: भावतत्त्वप्रकाशिका पर आधारित है यह स्पष्ट ही है अत: यह प्रयास समुचित है, फिर भी यदि भावतत्त्वप्रकाशिका के अन्य हस्तलेख मिलें तो पाठ में साधिकार परिवर्तन सम्भव होगा। सम्पादक श्री स्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वती जी ने इस संस्करण के लिये भी सम्पूर्ण योगदान दिया है जिसके लिये संस्था आभारी है।

'श्रीदक्षिणामूर्ति मठ, प्रकाशन' संस्था के संस्थापक श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य महामण्डलेश्वर १०८ **श्री स्वामी महेशानन्द गिरि जी महाराज** सं. २०६५ कार्तिक वदि २ को ब्रह्मलीन हो गये, किन्तु उनकी असीम कृपा से आचार्य महामण्डलेश्वर १०८ श्री स्वामी पुण्यानन्द गिरि जी महाराज की अध्यक्षता में संस्था यथापूर्व कार्यरत है एवं शांकर साहित्य के प्रकाशन में संलग्न बनी रहेगी।

प्रकाशक

प्राक्कथन

ज्योतिर्यद्दक्षिणामूर्तिव्यासशङ्करशब्दितम् ।
अखण्डानन्दं तद्वन्दे सत्यानन्दपदोदितम् ॥

प्राय: मनुष्य अपनी उन्नति के लिये पुरुषार्थत्रय की प्राप्ति में तत्पर रहने पर भी कोई कोई संसारानल संतप्त मुमुक्षु सर्वोत्कृष्ट मोक्षस्वरूप परमपुरुषार्थ की ओर अग्रसर होते हैं। वह मोक्ष वेदान्तोक्त ब्रह्मविज्ञान द्वारा ही प्राप्त होता है ऐसा श्रुति, युक्ति एवं विद्वानों के अनुभव द्वारा प्रतिपादित हुआ है। अनादिकाल से माया-मोहग्रस्त जीव कदाचित् एक बार महावाक्य के श्रवण से ही मुक्त नहीं हो सकता। इसलिये आचार्यों ने वेदान्त-विचारात्मक अनेक ग्रन्थ निर्माण किये हैं। क्योंकि भगवान सूत्रकार ने भी कहा—'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' (ब्र.सू. ४.१.१) जैसे कि छान्दोग्योपनिषद के षष्ठ प्रपाठक में वेदान्ततत्त्वविज्ञान के लिये श्वेतकेतुको नौ बार 'तत्त्वमसि' महावाक्य का उपदेश दिया गया है, उसी प्रकार मेरे जैसे मन्दाधिकारियों के लिये नौ बार भी कम ही है। सुतरां बारम्बार वेदान्त विचार की सुविधा प्रदान करने के लिये आचार्यों का प्रयास परम अनुकम्पा का ही निदर्शन है। इसी प्रकार बहुग्रन्थ रहते हुए भी अपने ज्ञान की पुष्टि के लिये या जिज्ञासुओं के उपकारार्थ श्रीसुरेश्वराचार्य ने नैष्कर्म्यसिद्धि की रचना की तथा साधारण बुद्धिवालों के उपकारार्थ श्रीचित्सुखाचार्य जी ने इसके ऊपर 'भावतत्त्वप्रकाशिका' नामक संस्कृत भाषा में एक टीका की वह टीका अब तक अप्रकाशित थी। प.पू. निरञ्जनपीठाधीश्वर महामण्डलेश्वर **अनन्तश्री स्वामी महेशानन्द गिरि महाराज जी** की अनुकम्पा तथा प्रेरणा से वह अब विद्वानों के हाथों में आ रही है।

नैष्कर्म्यसिद्धि यह नाम भी अपने में अत्यन्त वैशिष्ट्य रखता है। इस नाम में दो शब्द है—पहला नैष्कर्म्य, दूसरा सिद्धि। निष्कर्म का भाव नैष्कर्म्य ऐसी व्युत्पत्ति करने पर प्रश्न होगा निष्कर्म किसे कहते हैं? जिससे कर्म निर्गत हो गये या कर्म हैं ही नहीं अथवा जहाँ कर्म न हो। यहाँ प्रथम पक्ष में पुन: प्रश्न होता है कि कर्मों का निर्गमन किसे कहते हैं। क्या आत्मा में अध्यारोपित कर्म नहीं है, या आत्मा कर्म-साध्य नहीं अथवा अध्यारोपित कर्म रहने पर भी कर्मों की पारमार्थिकता नहीं। यहाँ पर द्वितीय पक्ष 'कर्म

है ही नहीं', यह नहीं कह सकते, क्योंकि कर्मों के अनुभूत होने के कारण सर्वथा निषेध नहीं किया जा सकता। निर्गमन से कर्मों के अध्यारोप का अभाव—यह प्रथम पक्ष युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि आत्मा ही निखिल प्रपञ्च का अधिष्ठान होने के कारण कर्म का भी अधिकरण आत्मा ही है। सुतरां अध्यारोपित कर्म आत्मा में है नहीं—यह कहना युक्तिविरुद्ध ही है। अन्य जो पक्ष कहे गये हैं, उनमें कोई भी पक्ष ग्रहण करने पर आत्मा या ब्रह्म ही नैष्कर्म्य शब्द से गृहीत होता है। उसकी सिद्धि अर्थात् निश्चय ही नैष्कर्म्य-सिद्धि का शब्दार्थ है।

श्रीमद्भगवद्गीता में स्वयं भगवान् ने कहा है—'नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति'। यहाँ भाष्यादि विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि 'नैष्कर्म्यसिद्धि' निष्क्रियात्मस्वरूपावस्थानलक्षण ब्रह्म का निश्चय या प्राप्ति ही आचार्यों का अभिप्राय है। सुतरां इस भाव को लेकर ही ग्रन्थकार ने इस प्रकरण की रचना की है। प्रकरण का प्रतिपाद्य विषय भी वही है, क्योंकि अज्ञान ही सम्पूर्ण कर्मों का कारण है। और वेदान्त प्रमाण से उत्पन्न निष्कर्मात्मस्वरूपज्ञान से ही उसका निराकरण सम्भव है। इसीलिये आचार्य भी कहते हैं—

'वेदावसानवाक्योत्थसम्यग्ज्ञानाऽऽशुशुक्षणि: ।
दन्दहीत्यात्मनो मोहं न कर्माप्रतिकूलत:' ॥१-८॥

वस्तुत: अध्यारोपित वस्तु की अधिष्ठान सत्ता से अतिरिक्त सत्ता होती ही नहीं। नैष्कर्म्यसिद्धि में भी वही आत्मतत्त्व ही विशेष रूप से निरूपित हुआ है। यहाँ प्रथम प्रकरण में बताया गया—सकल अनर्थ के कारण अविद्या ब्रह्मविद्या के द्वारा ही दूरीभूत होती है। इसलिये केवल कर्म से या ज्ञानकर्म-समुच्चय से मुक्ति नहीं हो सकती। क्योंकि कर्म अविद्या से उत्पन्न होने के कारण अविद्या का विनाशक नहीं बन सकता। परन्तु आरादुपकारकत्वेन कर्म को भी मुक्ति का हेतु माना जा सकता है। अर्थात् कर्म से अन्त:करण की शुद्धि तथा वैराग्य की प्राप्ति होने पर ब्रह्मजिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है। परन्तु ज्ञान किसी कर्म का फल नहीं है, यह होने के कारण अप्रमेय स्वत:सिद्ध आत्मस्वरूप है। इसलिये ज्ञान से ही मुक्ति है, कर्म से मुक्ति नहीं हो सकती। इस अध्याय को मोक्षनिरूपणात्मक अध्याय भी कहा जा सकता है।

द्वितीय अध्याय में तत्त्वमसि महावाक्य के 'त्वं' पदार्थ का विवेचन किया गया है। एकात्मविज्ञान के प्रतिबन्धक-अपनोदन करने के लिये ही इस अध्याय का अवतरण हुआ है। शरीर-इन्द्रिय आदि का अनात्मत्व प्रदर्शनपूर्वक संसार से वैराग्य, मुक्ति की इच्छा, गुरु-समीप गमन, महावाक्य श्रवण एवं अन्वयव्यतिरेकजन्य पद-पदार्थ के

ज्ञानलाभ की प्रक्रिया बताई गई है। त्वं-पदार्थ का सम्यग्ज्ञान तथा अनात्म पदार्थों की निवृत्ति ही प्रयोजन है। आत्मा प्रत्येक कार्य का स्वत:सिद्ध साक्षी है। अहंकार से आत्मा का ही बन्धन होता है एवं श्रुति के उपदेश से वह मुक्त हो जाता है। किन्तु परमार्थत: आत्मा बन्धन एवं मुक्ति से भिन्न है।

तृतीय अध्याय में महावाक्य की व्याख्या अच्छी तरह की गयी है। क्योंकि 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों के विचार से ही 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार बोध होता है, जिससे अज्ञान की निवृत्ति होती है। अज्ञान को अनिर्वचनीय भावरूप बताया गया है। घटाकाश एवं महाकाश की तरह तत्त्वमस्यादि महावाक्य का अखण्डार्थ सिद्ध होता है। 'तत्' एवं 'त्वम्' पदार्थ का वाक्यार्थ ग्राह्य नहीं है। इसलिये यहाँ पर लक्ष्यलक्षण सम्बन्ध माना गया। सर्प बाधित होने पर जैसे रस्सी दिखाई पड़ती है उसी प्रकार अहंकारादि के बाधित होने पर वाक्यार्थ की प्रतीति होती है। इस अध्याय में प्रसंख्यानवाद का भी निराकरण किया गया। 'त्वं' पदार्थ के लिये भी श्रवण विधि स्वीकार की गयी है, अतएव तदङ्गरूप सर्वकर्मसंन्यास विधानपूर्वक परमहंसीय आचरण को भी शास्त्रीय ही बताया गया है।

चतुर्थ अध्याय में सम्पूर्ण प्रकरण का संक्षेप से निरूपण किया गया है। इस अध्याय में आत्मा एवं अनात्मा का विवेक सम्यक् उक्त हुआ है। लोक में प्रत्यक्षादि प्रमाणों से आत्मा एवं अनात्मा का विवेक होने पर भी अनात्म वस्तुओं की सिद्धि आत्मा की सिद्धि के बिना हो नहीं सकती। जैसे सर्पज्ञान दूर होने पर भी कुछ देर तक कम्पन रहता है उसी प्रकार ज्ञान होने पर भी व्यवहार रहता है। इसी प्रकार सद्योमुक्ति एवं जीवन्मुक्ति का निरूपण है। ज्ञानी के लिये निन्दित आचार का भी निषेध किया गया है। तथा उपसंहार करते हुए कहा गया कि ग्रन्थ गुरु-सम्प्रदाय के अनुसार है, एवं सज्जनों से यह परीक्षणीय भी है। अन्त में भी गुरुप्रणतिपूर्वक ग्रन्थ की समाप्ति की गई है।

यहाँ पर अज्ञान को अनाद्यनिर्वचनीय भावरूप तथा स्वत:सिद्ध बताया गया, क्योंकि प्रमाण से निवृत्त होने वाली वस्तुओं का प्रमाण से उपपन्न होना सम्भव नहीं। सम्भवत: तृतीय अध्याय के सप्तम श्लोक की उत्थानिका में आचार्य ने पूर्वपक्ष के रूप में न्यायमत अवलम्बन करके 'अज्ञानं हि नाम ज्ञानाभाव.....' इत्यादि जो कहा, उससे इस ग्रन्थ के अन्यतम टीकाकार स्वामी श्रीसच्चिदानन्देन्द्र सरस्वती जी को भ्रम हुआ होगा जिससे उन्होंने अपनी टीका में अज्ञान को अभावरूप सिद्ध करने के लिये व्यर्थ प्रयास किये हैं। किन्तु उत्तर श्लोक में ही आचार्य अज्ञान की भावरूपता-प्रतिपादन करते हैं—

'एकेनैव सता संश्च सन्नज्ञातो भवेत्तत:'॥३-७॥

न्यायमत में भी जो अज्ञान को अभावरूप बताया गया वह सर्वथा श्रुति, युक्ति तथा अनुभव-विरुद्ध है। क्योंकि न्याय मत में ही प्रतियोगी के ज्ञान के बिना अभाव सिद्ध नहीं हो सकता, सुतरां ज्ञान का अभाव सिद्ध करने के लिये प्रतियोगिस्वरूप ज्ञान का ज्ञान आवश्यक है। अतएव ज्ञान का ज्ञान रहते हुए ज्ञान का अभाव मानना वदतो व्याघात दोष ही होगा।

सुषुप्ति के बाद उस अवस्था की स्मृति का 'न किञ्चिदवेदिषम्' यही अनुभव है। जाग्रत् में भी 'मैं नहीं जानता हूँ' इस प्रकार अनुभूति होती है तथा 'अनृतेन प्रत्यूढा:' (छा. ८.३.२) 'तम आसीत्' (ऋग्वेद १०.११.१२९) 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्ति:' (श्वे. १.१०) 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्' (श्वे. ४.१०) इत्यादि श्रुति भी प्रमाण है।

सुतरां क्लेशापहारिणी टीका बहुत स्थलों पर प्राञ्जल व्याख्या करने पर भी बहुत स्थलों पर अपसिद्धान्त-प्रतिपादन करने के कारण क्लेशकारिणी भी सिद्ध हुई है।

प्राय: स्थानों पर 'तत्त्वमसि' महावाक्य का विशेष रूप से विवेचन होने पर भी चारों महावाक्यों का एक ही ब्रह्मात्मैक्य बोध में तात्पर्य होने के कारण इसे उपलक्षण माना जा सकता है। अथवा समझाने की दृष्टि से यह महावाक्य अधिक उपयोगी भी सिद्ध होने के कारण आचार्यों ने इसका विचार शब्दत: किया है। वैसे चारों महावाक्यों का हम इस प्रकार प्रक्रियाभेद से विभाजन भी कर सकते हैं कि निरूपणात्मक महावाक्य है 'प्रज्ञानं ब्रह्म', निदर्शनात्मक महावाक्य है 'अयमात्मा ब्रह्म', उपदेशात्मक महावाक्य है 'तत्त्वमसि' तथा अनुभवात्मक महावाक्य है 'अहं ब्रह्मास्मि'। तत्त्वजिज्ञासु के लिये चारों महावाक्यों की अपने-अपने स्थान पर उपयोगिता सिद्ध होती है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वितीय पृष्ठ के तृतीय टिप्पण में बताया गया है कि 'पूर्वाचार्यवचोनुगा' इस अंश को लेकर जो लोग श्रीचित्सुखाचार्य जी को नैष्कर्म्यसिद्धि की टीका चन्द्रिका के रचयिता श्रीज्ञानोत्तम मिश्र का शिष्य मानते हैं, वह उचित नहीं है, क्योंकि—

१. श्री चित्सुखाचार्य जी के गुरुजी ज्ञानोत्तमाचार्य गौडदेशीय थे। उन्होंने तत्त्वप्रदीपिका समाप्ति में कहा है कि—'इति गौडेश्वराचार्यपरमहंसपरिव्राजकाचार्य-ज्ञानोत्तमपूज्यपादशिष्य...' इत्यादि। नैष्कर्म्यसिद्धि की चन्द्रिका के लेखक 'ज्ञानोत्तम' चोलदेशीय थे। यह बात उन्होंने खुद ही अपने मंगलचारण में कही है—

चोलेषु मंगलमिति प्रथितार्थनाम्नि
ग्रामे वसन्पितृगुरोरभिधां दधान: ।
ज्ञानोत्तम: सकलदर्शनपारदृश्वा
नैष्कर्म्यसिद्धिविवृतिं कुरुते यथावत् ।।

२. आचार्य ज्ञानोत्तम संन्यासी थे क्योंकि श्री चित्सुखाचार्य तत्त्वप्रदीपिका के अन्त में 'परमहंसपरिव्राजकाचार्य' यह संन्यासवाचक शब्दों के द्वारा अभिनन्दन करते हैं। नैष्कर्म्यसिद्धिचन्द्रिकाकार ज्ञानोत्तम मिश्र गृहस्थ थे क्योंकि नैष्कर्म्यसिद्धिचन्द्रिका के अन्त में 'श्री महोपाध्यायज्ञानोत्तममिश्रविरचितायां' यह कहा गया है।

३. श्रीचित्सुखाचार्य की नैष्कर्म्यसिद्धि टीका में जो कुछ है, वह प्राय: ज्ञानोत्तमकृत चन्द्रिका में है। परन्तु चन्द्रिका का वैशिष्ट्य वहाँ नहीं है। यदि चन्द्रिकाकार श्रीचित्सुखाचार्यजी से पुराने होते तो श्रीचित्सुखाचार्य उनके वाक्यों को ग्रहण करते, किन्तु यहाँ विपरीत हुआ है।

४. जि.ए. जैकब जी ने भी नैष्कर्म्यसिद्धि भूमिका में चन्द्रिकाकार ज्ञानोत्तममिश्रजी को श्री चित्सुखाचार्य जी की अपेक्षा अर्वाचीन बताया है।

अतएव नैष्कर्म्यसिद्धि, इष्टसिद्धि आदि के टीकाकार ज्ञानोत्तम मिश्र श्रीचित्सुखाचार्य जी के गुरु श्रीज्ञानोत्तमजी से भिन्न हैं यह दृढतापूर्वक कहा जा सकता है।

अन्त में पूज्य महाराजश्री के आशीर्वाद-प्रेरणा से जो शास्त्र-चिन्तन एवं शास्त्र-रक्षण में प्रवृत्ति हुई इसके लिये चिरकृतज्ञ रहूँगा और आगे भी ऐसी प्रवृत्ति के लिये आशीष-प्रार्थना कर रहा हूँ। पूज्य महाराजजी के कृपाधन्य किसी माध्यम से प्रकाशित होने के अनिच्छुक किसी गुप्त साधक के प्रति भी कृतज्ञ हूँ, क्योंकि उनकी सहायता सर्वदा अविस्मरणीय रहेगी। सम्पादन काल में अपनी असावधानीवशत: कहीं कुछ त्रुटियाँ रह गयी हों तो मरालधर्मी पाठक वर्ग उसे संशोधन करके सूचित कर दे तो अधिक आनन्दित रहूँगा। अत: प्रार्थना है—

अयुक्तं यदिह प्रोक्तं प्रमादेन भ्रमेण वा ।
वचो मया दयावन्त: सन्त: संशोधयन्तु तत् ।।

इति

चैत्र शुक्ल, २०५३

श्री गुरुचरणाश्रित
स्वामी प्रज्ञानानन्द

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

श्लोकाङ्क		पृष्ठाङ्क
	दु:खादि सकल अनर्थों के कारण अज्ञान का निवारण ज्ञान का प्रयोजन है।	२-८
१-२	मंगलाचरण	९-११
३	गुरुजी की इच्छानुसार ग्रन्थ का निर्माण	१२
४	ग्रन्थ का विषय आत्मस्वरूप-निरूपण है	१२
५	उक्त विषय वेद का सिद्धान्त तथा गुरु-कर्तृक उपदिष्ट है	१४
६	ग्रन्थरचना का उद्देश्य	१४
७-८	अनर्थरूप संसार का कारण अविद्या तथा पुरुषार्थ-रूप मुक्ति का कारण ब्रह्मविद्या है, परन्तु कर्म नहीं	१५-१७
९-१९	**कर्मवादियों का पूर्वपक्ष–**	**१८-२४**
९	केवल कर्म के द्वारा ही मुक्ति होती है	१८
१०-१३	कर्म द्वारा मुक्ति का कौशल	१९-२०
१४-१६	श्रुति और स्मृति में कर्म का ही विधान है	२१-२२
१७	वेदवाक्य क्रियापरक है	२२
१८	यावज्जीवन कर्मानुष्ठान श्रुतिसम्मत है	२३
१९	क्रिया-असम्बद्ध ज्ञान वाक्य द्वारा प्रमाणित नहीं होता है	२४
२०-२१	ज्ञानकर्मसमुच्चय ही मुक्ति का कारण है, ऐसा पूर्वपक्ष	२४-२५

श्लोकाङ्क		पृष्ठाङ्क
२२-२८	'केवल कर्म द्वारा मुक्ति' रूप पूर्वपक्ष का खण्डन	२८-३५
२९-४०	**अज्ञान के विनाशक रूप से भी कर्म मोक्ष का साधन नहीं है**	**३९-५१**
२९-३४	सब कर्मों की प्रवृत्ति का हेतुनिरूपण एवं आत्मज्ञान से ही समस्त संसार की निवृत्ति के पक्ष का दृढीकरण	३९-४४
३५	अज्ञानज कर्म अज्ञान-निवारक नहीं हो सकता	४५
३६	श्रुति प्रमाण-जात सम्यक् ज्ञान बाधित नहीं होता और पुरुषार्थ-सिद्धि के लिये कर्म की आवश्यकता नहीं है	४८
३८	बाधित अविद्या पुन: विद्या को बाधित नहीं कर सकती	५०
३९	वर्णाश्रमाद्यभिमानी वेदकिङ्कर है	५१
४०	ब्रह्मज्ञ वेदकिङ्कर नहीं है	५१
४१-४४	संसार वर्णन तथा उसकी निवृत्ति का उपाय कामवर्जन	५१-५४
४५-५२	**कर्म परम्परा से मोक्ष के प्रति कारण है**	**५५-५६**
४५-४७	कर्मों से चित्तशुद्धि के द्वारा वैराग्य की उत्पत्ति	५७
४८	प्रत्यगात्मज्ञान की इच्छा	
५०	चित्तशुद्धि के लिये नित्यनैमित्तिक कर्म की आवश्यकता	५८
५२	परम्परा से कर्म मुक्ति का कारण है	६०
५३	मुक्ति कर्मों के चारों फलों में एक भी नहीं है	६१
५४-५९	ज्ञान और कर्म का समुच्चय भी मुक्ति का कारण नहीं है	६२-६५

श्लोकाङ्क		पृष्ठाङ्क
६०	जहाँ ज्ञान और कर्म का नित्यनैमित्तिक भाव है, वहाँ दोनों का समुच्चय भी सिद्ध है	६६
६१-६७	अद्वैत आत्मतत्त्वज्ञान तथा ज्ञान-कर्म का समुच्चय असम्भव है	६७-७२
६८-७९	द्वैताद्वैतवादियों के मत में भी ज्ञान-कर्म का समुच्चय असम्भव है	७४-८७
८०	'केवल कर्म से ही मुक्ति' इस पूर्वपक्ष का खण्डन	८९
८१	काम्य कर्मों का त्याग तथा निषिद्ध कर्मों का त्याग असम्भव है	९१
८२	फलहीन होने के नाते नित्यकर्म काम्यकर्मों का निवारक नहीं हो सकता	९२
८३	नित्यकर्म काम्यनाशक होने का शास्त्र में वर्णन नहीं है	९२
८५	कर्मफल अनन्त है एवं कार्मियों की संख्या भी अनन्त होने के नाते श्रुति में भी अनेक स्थानों पर कर्म की व्यवस्था हो गयी है	९३
८६	कर्मविधानबाहुल्य से ज्ञान का अप्रामाण्य सिद्ध नहीं हो सकता	९४
८७	आत्मज्ञान के लिये श्रवणादिविधायिनी श्रुतियों की विद्यमानता	९५
८८	आत्मा या आत्मोपासना के विषय में अपूर्व आदि विधि श्रुति का अभाव	९८
८९	वाक्यैकगम्य धर्माधर्म के विषय में श्रुतिवाक्य के बिना अविश्वास होने पर भी अप्रमेय स्वत: सिद्ध आत्मा में अविश्वास करने का कारण नहीं है	१००
९०	ज्ञान निष्फल नहीं है	१०१

श्लोकाङ्क		पृष्ठाङ्क
९१	वेद में कर्मकाण्ड की ही क्रियार्थता है, ज्ञानकाण्ड की नहीं	१०२
९२	आत्मा का कर्तृत्व अप्रामाणिक है, अत: प्रवृत्ति असम्भव है	१०३
९५	आत्मा में स्वर्गादि सुखसम्बन्ध का अभाव	१०५
९६	यावज्जीवन कर्मविधान अज्ञों के लिए है ज्ञानियों के लिए नहीं	१०५
९८	स्वत:सिद्ध वस्तु के ज्ञान के सिवाय तत्त्वमसि आदि महावाक्यों का अर्थान्तर नहीं है	१०७
९९	ज्ञान से ही मुक्ति होती है, कर्म से नहीं	१०८

द्वितीय अध्याय

तत्त्वमसि वाक्यस्थ 'त्वं' पद का अर्थ निर्णय

१-४	वाक्यरूप प्रमाण से ही 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार वाक्यार्थ का ज्ञान होता है	११०-११५
५	प्रत्यक्षादि के साथ तत्त्वमस्यादि वाक्यों का विरोध नहीं है	११६
६-८	वैराग्यादियों का ज्ञान के प्रति कारणत्व निरूपण	११७
९-१०	वाक्यार्थबोध से अज्ञान का ध्वंसरूप मोक्ष	११७-११८
११-२१	स्थूल शरीर से आत्मा का विवेक	११८-१२३
२२-४४	सूक्ष्मदेह से आत्मा का विवेक	१२७-१४४
४५	द्वैत आत्मा में कल्पित होने के नाते मिथ्या है	१४५
४६	आत्मा में भेदबुद्धि अज्ञानविजृम्भित है	१४६
४७-५०	अज्ञान ही सब प्राणियों में विद्यमान एक आत्मा में बहुत्व-बुद्धि का कारण है	१४६-१४९

श्लोकाङ्क		पृष्ठाङ्क
५१-५२	मोहमात्र उपादान होने के कारण यह संसार थोड़ा सा भी आत्मस्पर्शी नहीं है	१५०-१५१
५३	आत्मा और अनात्मा के सम्बन्धकारक अहंकार के नाश से ही अद्वैतसिद्धि	१५२
५४-५७	आत्मा में अहंकार की प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के विचारपूर्वक आत्मा का लक्ष्य वस्तु के रूप में निर्णय तथा लक्षणावृत्ति आदि का विचार	१५४-१५७
५८-९५	सांख्य प्रक्रिया से बुद्धि के परिणामित्व का वर्णन साक्षी-आत्मा के कर्तृत्व आदि सर्वप्रकार परिणामों का निषेध तथा उसी के लिए कुछ दृष्टान्त	१५९-१८७
९६	आत्मा और अनात्मा का विवेक ही अनुमान से सिद्ध होता है, अद्वैत आत्मज्ञान नहीं	१८८
९७	द्रष्टा, दृश्य और दर्शनात्मक यह जगत् अनात्मरूप से त्याज्य होने पर भी अनात्मरूप प्रकृति पदार्थ में आश्रित नहीं है, परन्तु आत्माश्रित और आत्मविषयक अज्ञान में ही आश्रित है	१९०
९८-९९	पूर्वकारण से ही आत्मा की अप्रमेयत्व-सिद्धि	१९१-१९२
१००-१०२	आत्मा और अनात्मा का परस्पराध्यास	१९३-१९४
१०३-१०४	आत्मतत्त्वज्ञान से ही अध्यास की निवृत्ति	१९४-१९५
१०५	अविद्यानाश ही आत्मतत्त्वज्ञान है परन्तु आत्मतत्त्वज्ञान अज्ञातार्थ की अवगतिरूप नहीं है	१९६
१०६-१०७	दृश्य, दर्शन, द्रष्टा आत्मसाक्षिक है	१९६-१९७
१०८	इसलिए आत्मा सर्व कारक, क्रिया, फल और विभागात्मक संसारशून्य है	२०१
१०९	द्रष्टा, दृश्य और दर्शन की विभागसिद्धि आत्मा के साक्षित्व में ही होती है	२०२

श्लोकाङ्क		पृष्ठाङ्क
११०	स्वत:सिद्ध आत्मा का साक्षित्व अन्य साक्षिपूर्वक नहीं है	२०४
१११	उत्पत्ति, स्थिति एवं संहार में जो निर्विकार अवगतिरूप से रहते हैं, उन्हें ही 'मैं' के रूप से जानना चाहिये	२०४
११२-११३	अज्ञानजात और इतरेतर के सिद्धि सापेक्ष द्वैतवर्ग के बाध से अद्वैत की सिद्धि होती हैं, इस विषय में श्रुति का उदाहरण	२०६-२०७
११४-११५	आत्मा से भिन्न बुद्ध्यादि अनात्मपदार्थ पूरी तरह मिथ्या है, क्योंकि आत्मचैतन्य के आश्रय में ही उनकी सिद्धि, अन्यथा नहीं	२०८-२१२
११६-११९	श्रुति के उपदेश से अहंकार के द्वारा बद्ध आत्मा की मुक्ति होती है, किन्तु परमार्थत: आत्मा बन्धन एवं मुक्ति दोनों से रहित है	२१३-२१६
	तृतीय अध्याय	
	तत्त्वमसि आदि वाक्यजात ज्ञान से ही अज्ञान की निवृत्ति होती है, इसलिए वाक्यों की व्याख्या और वाक्यार्थ अवबोध के लिये 'तत्' और 'त्वं' पदार्थों का निर्णय	**२१७**
१	तत्त्वमसि आदि महावाक्यों से 'मैं ब्रह्म हूँ' इस ज्ञान से ही मुक्ति है	२२८
२	वाक्यस्थ 'त्वं' पद की सन्निधि से 'तत्' पदार्थ का अनात्मत्व और 'तत्' पद की सन्निधि से 'त्वं' पदार्थ का दु:खित्व निषिद्ध होता है	२३१
३	वाक्यस्थ पदद्वय का सामानाधिकरण्य, पदार्थद्वय का विशेषण-विशेष्यता तथा वाच्यार्थद्वय और वाक्यतात्पर्यविषय प्रत्यगात्मा का लक्ष्यलक्षण सम्बन्ध	२३२

श्लोकाङ्क		पृष्ठाङ्क
४-५	वाक्यार्थज्ञान के साधनविषय में विधि प्रयुक्त है	२३६-२३८
६	सांख्यशास्त्रोक्त विवेकरूप भेदज्ञान साक्षी आत्मा में अश्रुत होने के कारण वह विवेक भ्रान्ति है	२४१
७-८	अनादि अनिर्वचनीय भावरूप अज्ञान स्वत:सिद्ध साक्षिचैतन्य से सिद्ध है, क्योंकि प्रमाण-निवर्त्तनीय वस्तु प्रमाण के द्वारा उपपन्न नहीं हो सकती	२४४-२४७
९	'घटाकाश महाकाश' आदि वाक्य की तरह 'तत् त्वम्' आदि वाक्य भी अखण्डार्थ का बोधक है	२५३
१०	'तत्' पदार्थ के द्वारा विशेषित होने के कारण त्वमर्थ का दु:खित्व और 'त्वं' पदार्थ के सान्निध्य से तदर्थ की प्रत्यक्ता सम्पादित होती है	२५४
११	बुद्धिगत बोद्धृता और अहन्ता के द्वारा आत्मा लक्षित होता है	२५५
१२-१३	बोद्धृता और प्रत्यक्ता का निरूपण तथा आत्मा में विद्यमान बोद्धृत्व और कर्तृत्व में भेद नहीं है	२५७-२५८
१४	आत्मा की बोद्धृता और प्रत्यक्ता पृथक् नहीं है	२५९
१५	कूटस्थ बोध के प्रसाद से ही बुद्धि की बोद्धृता सिद्ध होती है, बुद्धि खुद अनित्य है	२६०
१६-१७	परिणामी तथा कूटस्थ का लक्षण	२६०-२६१
१८-१९	आत्मा और बुद्धि का तथा बोद्धृत्व और प्रत्यक्त्व का असाधारण लक्षण	२६१-२६२
२०-२१	कूटस्थ आत्मा और परिणामी बुद्धि का सम्बन्ध अज्ञान से होने के नाते बुद्धि का भावाभाव आत्मा में भ्रम से व्यवहृत होता है	२६३-२६४
२२	इस प्रकार अन्वयव्यतिरेकसहकृत वाक्य ही अज्ञान का निवर्त्तक है	२६४

श्लोकाङ्क		पृष्ठाङ्क
२३-२४	'त्वं' पद और 'तत्' पद का वाच्यार्थ प्रतिपादनीय नहीं है	२६८
२५	उद्दिश्यमान और विधीयमान दोनों पदों के वाच्यार्थों का विरोध होने के कारण 'त्वं' पदार्थ का दु:खित्व एवं 'तत्' पदार्थ का परोक्षत्व अविवक्षित नहीं है	२६९
२६	'तत्' एवं 'त्वं' पदार्थों का विशेष्यविशेषणभाव एवं पूर्वोक्त विरोध के नाते दोनों पदार्थों से प्रत्यगात्मा लक्षित होता है	२७०
२७	सर्प के बाधित होने से रज्जुप्रतिपत्ति की तरह अहंकार से बाधित होकर वाक्यार्थ की प्रतीति होती है	२७१
२८	जैसे-जैसे विरोधी परिच्छेदाभिमान दूर होता है वैसे-वैसे 'तत्' पदार्थ 'त्वं' पदार्थ के निकटवर्त्ती होता है	२७२
२९-३१	देहादि व्यवधान से आत्मस्वरूप होने पर भी ब्रह्म परोक्षरूप से ही ज्ञात होता है, इस विषय में दृष्टान्त	२७५
३२	पद की वृत्ति सामान्य में होने पर भी श्रुति-लिङ्ग आदि के द्वारा प्रतिबद्ध होकर पद विशेषार्थ का व्यञ्जक होता है	२७६
३३-३४	अनुमान से बुद्ध्यादि का अनात्मत्व निश्चित होने पर भी अज्ञान की निवृत्ति न होने से वाक्य ही आश्रयणीय है	२७७-२७८
३५-३८	श्रुति का प्रमाण्य ही नि:सन्दिग्ध है, क्योंकि श्रुति प्रमाणान्तर से अनधिगत वस्तु का प्रतिपादन करती है, कुछ भी विपरीत प्रतिपादन नहीं करती, संशयित या अप्रतिपादन भी नहीं करती	२७९-२८१

श्लोकाङ्क		पृष्ठाङ्क
३९-४२	श्रुति द्वारा अनुगृहीत अन्वयव्यतिरेक न्याय का उदाहरण	२८१-२८४
४३	अपने स्वरूप के विलय से ही अहं-वृत्ति वाक्यार्थज्ञान का कारण होती है	२८४
४४-४६	'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों के साथ प्रत्यक्षादि का विरोध नहीं है	२८५-२८६
४७-५२	प्रमाणान्तर से निरपेक्ष न होने से 'तत्त्वमसि' आदि अभिधाश्रुति वाक्य आत्मवस्तु के प्रमाणन में असमर्थ है—इस आपत्ति के उत्तर में, आत्मा प्रत्यक्षादि प्रमाण के द्वारा अनधिगम्य होने के कारण कहे हुए विषय में अभिधाश्रुति के सामर्थ्य का वर्णन	२८८-२९०
५३	अत: कृत-अन्वयव्यतिरेक जिज्ञासु, वाक्य से ही तत्त्वज्ञानलाभ करता है	२९०
५४-५५	आत्मा और अनात्मा का विवेकप्रदर्शन	२९१-२९४
५६	देहेन्द्रियादि की तरह दृश्य होने के कारण अहंकार भी अनात्मा है	२९५
५७	अनुमान अस्तित्वमात्र-निष्ठ होने के नाते उससे आत्मा की साक्षात् प्रतीति नहीं होती	२९७
५८	अभिव्यञ्जक अन्त:करण के न रहने के कारण सुषुप्ति में अज्ञान का स्पष्ट अनुभव नहीं होता	३००
५९	दाह्य काष्ठ और दाहक अग्नि की तरह अहंकार और आत्मा का एकत्र ज्ञेयज्ञातृत्व होता है	३०२
६०-६२	ज्ञाता उपक्रियमाण या अपक्रियमाण होने पर ही विषय में ज्ञाता का मम-ज्ञान उत्पन्न होता है, नहीं तो इदं ज्ञान उत्पन्न होता है	३०४-३०६

श्लोकाङ्क		पृष्ठाङ्क
६३-७०	अन्वयव्यतिरेकजात अनुभव आदि से आत्मा और अनात्मा का विवेक ज्ञांत होता है, किन्तु अज्ञान की हानि वाक्य से ही होती है। इस विषय में 'दशम' वाक्य का दृष्टान्त	३०७-३१३
७१-७२	बुद्धि चिदाभास के द्वारा प्रदीप्त होकर प्रत्यगात्मा की तरह लक्षित होती है। यही बुद्धि में आत्मभ्रान्ति का कारण है	३१४
७३-७४	भ्रान्तिप्रसिद्ध वस्तुओं के अनुवाद से तत्त्वमसि आदि वाक्यों का उपदेश होता है	३१५-३१६
७५	तत् और त्वं पदों का वाच्यार्थ अविवक्षित है। विरोधी अंश के परित्यागपूर्वक उसका अविरुद्धांश ही व्यवस्थित है	३१७
७६	इस प्रकार लक्षणभूत तत् और त्वं पदों का पर्यवसान ही लक्ष्यभूत द्वित्व और पारोक्ष्यवर्जित अखण्डैकरस आत्मा है	३१९
७७	'त्वं' पदार्थ का अहंकारांश और 'तत्' पदार्थ की परोक्षता हेय है	३२१
७८	'तत्' और 'त्वं' पदार्थों के विरुद्धांश का परित्याग	३२२
७९	अद्वितीयत्व और प्रत्यक्त्व के साथ संसारिता और पारोक्ष्य का विरोध होने के नाते अन्तिम दोनों ही बाधित होते हैं	३२३
८०	'त्वं' और 'तत्' पदार्थों का ऐक्य ही पुरुषार्थ होने के नाते उनके विरोधी संसारिता और परोक्षता ही बाधित होते हैं	३२४
८१-१२६	**प्रसंख्यानवाद का निराकरण–**	**३२५-३६६**

श्लोकाङ्क		पृष्ठाङ्क
८१-८२	वाक्य केवलमात्र वस्तुनिष्ठ है, अतएव वाक्य दृष्टिविधायक है यह कल्पित नहीं हो सकता	३२५-३२६
८३-८६	हर प्रमाण का अपने विषय में प्रामाण्य है। प्रमाण-समूह परस्पर विरुद्ध नहीं है	३२८-३३०
८७	सुखदु:खादि प्रत्यक्ष होने के नाते आत्मसमवेत नहीं है	३३१
८८	प्रामाणिक होने पर दु:ख दूर होना असम्भव है	३३२
८९	सम्यक् अनुष्ठित प्रसंख्यान आत्मा का दु:खित्व निराकरण नहीं कर सकता, क्योंकि प्रत्यक्षादि के विरोध के कारण प्रमा का उत्पादन नहीं कर सकता	३३२
९०	अभ्यास से जो उत्पन्न होता है वह चित्त की एकाग्रता ही है, प्रमाण नहीं	३३३
९१	अभ्यास से दु:ख की निवृत्ति एकान्तिक नहीं है	३३४
९२	अल्प अभ्यासजनित भावना कल्पकोटिस्थायी दु:ख का ध्वंस कर नहीं सकती	३३४
९३	भावना का फल अनित्य है	३३५
९४	आगमवाक्य द्वारा आत्मा का निर्दु:खित्व प्रतीत होने के कारण प्रत्यक्षादि विश्वसनीय नहीं है	३३७
९५	श्रुति भी प्रत्यक्षादि की बहिर्मुखता कहती है	३३९
९६	'मैं दु:खी हूँ' इस प्रकार की प्रत्यक्षता आत्मा में गौण है	३४०
९७-१०४	**अहं वृत्ति के द्वारा आत्मा लक्षित होता है**	**३४२-३५०**
९७	इस विषय में दृष्टान्त—'अग्नि अध्ययन कर रहा है'	३४३

श्लोकाङ्क		पृष्ठाङ्क
९८	'मैं', 'तुम' आदि शब्दों के बिना आत्मा के अवबोध का दूसरा उपाय नहीं है; ये आत्मा में गौणरूप से प्रयुक्त होते हैं, क्योंकि शब्द-प्रवृत्ति का हेतु जो षष्ठी, गुण, क्रिया, जाति और रूढि—ये आत्मा में नहीं हैं इसलिये आत्मा किसी भी शब्द का अभिधेय नहीं है	३४४
१०५-१०६	अपने नाम से आहूत व्यक्ति जिस प्रकार निद्रा से प्रबुद्ध होता है, उसी प्रकार तत्त्वमस्यादि वाक्य द्वारा अविद्या निद्रा से प्रबुद्ध होता है	३५०-३५१
१०७	ज्ञान और अज्ञान आत्मा को स्पर्श नहीं करता, किन्तु ज्ञान अज्ञान को ध्वंस करता है	३५३
१०८-१०९	मिथ्या उपाय के द्वारा भी सत्य का निर्णय हो सकता है	३५४
११०	आत्मा स्वप्रकाश होने के नाते अप्रबोधरूप हो नहीं सकता	३५६
१११	अविद्या की धृष्टता आश्चर्यकर है	३५७
११२	क्रियाकारकवर्जित आत्मा में अविद्या की सम्भावना नहीं है	३५८
११३	अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा आत्मा से अनात्मा पृथक् होने पर आत्मा में जो अभावरूपता की प्रतीति होती है, वह वाक्य द्वारा आत्मस्वरूप होने पर दूर हो जाती है	३५८
११४-११५	वह अभावरूपता की निवृत्ति अनुमान के द्वारा नहीं हो सकती, वाक्य से ही होती है	३५९
११६	विद्यालाभ के पूर्व या उसके बाद 'आत्मा में अविद्या की सम्भावना नहीं है' यह आपत्ति सम्भव नहीं है	३६०

श्लोकाङ्क		पृष्ठाङ्क
११७	सुतरां तत्त्वमस्यादि वाक्य के अनादरपूर्वक प्रसंख्यान आदि का आश्रय करना उचित नहीं है।	३६१
११८	जो 'तत्त्वमसि' आदि वेदवाक्यों में विश्वास नहीं करते हैं, वे अन्य प्रमाण पर कैसे विश्वास करेंगे?	३६१
११९	'तत्त्वमसि' आदि वाक्य से प्रमिति की उत्पत्ति होती है; इसलिये यहाँ विधिपरत्व नहीं हो सकता	३६२
१२०-१२१	अनात्मा को आत्मा से पृथक् करके जिसने 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार वाक्यार्थ का बोध किया हो, उसे उपासना की क्या आवश्यकता है?	३६३
१२२	श्रुत वाक्यों से प्रमा की उत्पत्ति न होने पर वाक्य का प्रामाण्य भंग हो जाता है	३६४
१२३	प्रसंख्यान के द्वारा वाक्यार्थ की अवगति होने पर श्रुति पीडित होती है	३६४
१२४	प्रसंख्यान के अनुष्ठान से पूर्व युक्ति और शब्द से प्रमा उत्पन्न न होने पर बाद में कैसे होगी?	३६५
१२५	श्रुत प्रसंख्यान श्रवणादि के समय प्रयोक्तव्य है, किन्तु तत्साध्य ज्ञान में नहीं	३६५
१२६	प्रसंख्यान-विधि स्वीकृत न होने पर भी परमहंसीय आचरण शास्त्रीय है	३६७

चतुर्थ अध्याय

१	उत्तर ग्रन्थ का सम्बन्ध	३६८
२	विस्तारितरूप से कथित विषयों के संक्षेप के लिये यह अध्याय है	३६८
३	प्रत्यक्षादि प्रमाणों से आत्मा और अनात्मा प्रमाणित होने पर भी अनात्मा की सिद्धि आत्मपूर्वक है	३६९

श्लोकाङ्क		पृष्ठाङ्क
४	घटादि वस्तुओं का अनात्मत्व प्रसिद्ध है। आत्मा ज्ञाता के रूप से प्रसिद्ध है, पर शरीरेन्द्रियादि के विषय में संशय है	३६९
५	देह से बुद्धि तक सबके सब अनात्मा हैं	३७०
६	अहं-बुद्धि और इदं-बुद्धि दोनों ही देह के बारे में प्रतीत होने के नाते मोह होता है	३७०
७-८	अहंकार का इदमंश परित्यक्त होने पर शेष अंश तत्त्वमसि वाक्य से प्रत्यक् रूप से ज्ञात होता है	३७१
९-१३	केवल आत्मा और अनात्मा के विवेक से ही आत्मस्वरूप ज्ञात नहीं किया जा सकता। वाक्य के बिना आत्मस्वरूप का अवबोध नहीं हो सकता	३७२-३७५
१४	कहा हुआ विवेक बुद्धि में ही रहता है, बुद्धि ही इसको नष्ट करती है	३७६
१५-१७	इस भेदावलम्बी विवेक से आत्मसाक्षात्कार असम्भव है। वाक्य से ही आत्मसाक्षात्कार होता है। इस विषय में श्रुति का उदाहरण	३७८
१८	आत्मा और अनात्मा के विवेकज्ञ व्यक्ति को ही श्रुति 'तुम ब्रह्म हो' इस प्रकार उपदेश प्रदान करती है	३७९
१९-३५	श्रीमच्छङ्कराचार्यकृत उपदेशसाहस्री के उदाहरण से वर्तमान ग्रन्थ के गुरुसम्प्रदायपूर्वकत्व का वर्णन है	३८०-३९०
३६-३७	स्वाप्निक निमित्त से स्वप्नद्रष्टा जगने के बाद जिस प्रकार स्वप्न के करण, कर्म तथा कर्त्ता, कुछ भी देख नहीं पाता, उसी प्रकार अज्ञान निद्रा से श्रुति द्वारा प्रबुद्ध व्यक्ति प्रत्यगात्मा से अतिरिक्त गुरु-शास्त्र-शिष्य आदि कुछ भी देख नहीं पाता	३९०-३९१

श्लोकाङ्क		पृष्ठाङ्क
३८-४४	दण्ड का ज्ञान होने पर दण्डसर्प जैसे दण्डावसान निष्ठ हो जाता है, वाक्य से प्रत्यगात्मज्ञान होने पर जगत् उसी प्रकार प्रत्यगात्मनिष्ठ हो जाता है। नींद में केवल मात्र द्वैतग्रहण का अभाव होने के कारण श्रुति द्वैत का अभाव बताती है, किन्तु उसी समय अज्ञान के अभाव से द्वैत ग्रहण का अभाव नहीं कहती। अत: सुषुप्ति अज्ञान का अभाव नहीं है। इस विषय में गौडपादीय तथा भाष्यकारजी के उदाहरण	३९१-३९५
४५	वह अज्ञान भी आत्मसम्बन्धित नहीं है	३९६
४६	यह बीजरूपी अज्ञान का ही द्वैतसम्बन्ध है, अविकारी आत्मा का नहीं	३९७
४७	कहे हुए विषय ही अन्वय-व्यतिरेक द्वारा प्रदर्शित हैं	३९८
४८-५०	ज्ञानमूर्त्ति आत्मा तीनों अवस्थाओं में ही अविकारी है, इस विषय में दृष्टान्त	३९९
५१	विद्वान् हर विषय में अनुमोदन तथा निषेध करते हैं	४००
५२	ग्रन्थ का उपसंहार	४००
५३	'मेरे से अतिरिक्त ज्ञान और अज्ञान का आश्रय कोई नहीं है', इस प्रकार ज्ञानी ही श्रेष्ठ ब्रह्मवित् है	४०१
५४-५९	ज्ञानी व्यक्ति प्रवृत्ति-निवृत्ति से शून्य होते हैं, उनका कोई कार्य शेष नहीं रह जाता, यही सद्योमुक्ति का पक्ष है	४०४
६०-६१	फलोपभोग से ही प्रारब्ध कर्म का क्षय होकर विद्वान् देहत्याग करते हैं। यह जीवन्मुक्ति पक्ष है। इस पक्ष में भी वे प्रवृत्ति-निवृत्तिशून्य होते हैं। उनकी प्रवृत्ति विधिजन्य नहीं है	४०५

श्लोकाङ्क		पृष्ठाङ्क
६२-६७	'अलेपक' पक्ष में विद्वान् का स्वैराचरण सम्भव है। अलेपक पक्ष का सम्पूर्ण रूप से खण्डन तथा इसमें भाष्यकारजी की सम्मति	४०६-४१०
६८	अमानित्वादि तथा द्वेषशून्यतादि विद्या का साधन है, परन्तु बहिर्मुखी व्यक्ति को ज्ञान नहीं हो सकता	४११
६९	विद्वान् के लिए ये गुण स्वभाव से सिद्ध हैं, प्रयत्नाधीन नहीं	४१४
७०	इस ग्रन्थ को ग्रहण करने के लिए अमानित्वादि का अनुष्ठान और दुर्वृत्तादि का परित्याग करना चाहिये	४१४
७१-७३	संसार से विरक्त, संयमी, सर्वकर्मपरित्यागी, प्रत्यक्प्रवणबुद्धि निष्काम और शान्त यतिगण इस ग्रन्थ के अधिकारी हैं	४१५-१६
७४	श्रीमच्छङ्करभगवत्पाद के अनुग्रह से प्राप्त ज्ञान यहाँ प्रकरण के रूप में निबद्ध किया गया है। साधुओं के द्वारा यह परीक्षणीय	४१७
७५	विशुद्धचित्त व्यक्ति के निकट चारु और सुभाषित प्रतिभात होता है	४१७
७६	सर्वदा ब्रह्मसंस्थ आचार्य की सेवा से सम्यक् ज्ञान लाभ करके दुःखियों के जन्ममृत्यु-निवारण के लिए ग्रन्थ में बताया गया है	४१८
७७	ज्ञानदाता श्रीगुरु को नमस्कार	४१९
७८	सम्बन्धोक्ति का उपसंहार	४१९
	श्लोकानुक्रमणिका	४२१
	उद्धरणसूची	४२९

●

।। श्रीदक्षिणामूर्तये नमः ।।

नैष्कर्म्यसिद्धिः

प्रथमोऽध्यायः

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

यत्साक्षात्सच्चिदानन्दं प्रत्यगद्वयमक्रियम्।
तन्नमामि नृसिंहस्य[1] योगिगम्यं परं पदम्॥

हिन्दी व्याख्या

यो दित्सति ज्ञानमथापि मौनी वटश्रितोधो जगदाश्रयोसौ।
नमस्यतामेति न यो नमस्यस्तस्मै नमोऽनुत्तरदिङ्मुखाय॥

गुरूनत्त्वा महेशाख्यान् शङ्करं च सुरेश्वरम्।
नैष्कर्म्यसिद्धेर्भाषायां प्रपञ्चः क्रियतेऽधुना॥
व्याख्यायाश्चन्द्रिकायास्तु प्रायोऽत्र सङ्ग्रहोऽभवत्।
क्लेशापहारिणीटीका साहाय्यं कुत्रचिद् ददौ॥
यः साम्प्रदायिकार्थस्य विरोधस्तत्र दर्शितः।
यथाशक्ति निराकारि ग्रन्थार्थव्याकृतात्र सः॥
यद्यप्यज्ञातविविधदर्शनो मन्दधीरहम्।
तथापि देशिककृपासुधासम्पर्कतो बली॥

श्रीमद्गुरुपदाम्भोजरजराजिनविग्रहः।
टिप्पणीं भक्तितश्चक्रे प्रज्ञानानन्दमस्करी॥

१. पुण्यपत्तनतः प्रकाशितायाः सचन्द्रिकाव्याख्यानैष्कर्म्यसिद्धिभूमिकाया अन्ते टिप्पण-रूपेणोद्धृताया भावतत्त्वप्रकाशिकाया मङ्गलाचरणे 'नृसिंहाख्यम्' इति पाठो वर्तते।

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तैः सर्वप्राणिभिः सर्वप्रकारस्यापिदुःखस्य स्वरसत

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

ज्योतिर्यद्दक्षिणापूर्व[1] व्यासशङ्करशब्दितम्।
ज्ञानोत्तमाख्यं तद्वन्दे सत्यानन्दपदोदितम्[2] ॥
संसारगरसन्तापनिर्वापणसुधापगाम् ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं यश्चक्रे तन्नमामि सुरेश्वरम् ॥
नैष्कर्म्यसिद्धेः क्रियते पूर्वाचार्यवचोनुगा[3] ।
मुनिना चित्सुखाख्येन *भावतत्त्वप्रकाशिका* ॥

व्याचिख्यासिताया: श्कोकसन्दर्भरूपाया: नैष्कर्म्यसिद्धेरधिकारिप्रयोजन-तत्साधन-सम्बन्ध-विषयाणामभावादनारम्भमाशङ्क्य, सम्बन्धोक्तिकारः प्रकरणारम्भसिद्धये क्रमेण तानुपपादयति–आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तैरित्यादिना प्रकरणमिदमारभ्यत **इत्यन्तेन ग्रन्थेन। तत्राधिकारिणमुपपादयति**–तन्निवृत्यर्था

न परालोचनार्थं तु निजबोधस्य शोधनम्।
शिष्यतामाप्नुयां 'तेन मोपसीदेति' शास्त्रतः ॥

निष्कर्मा शिव के स्वरूप का निश्चायक प्रकरणग्रन्थ[4]

चतुर्मुख ब्रह्मा से निरुद्धगति वृक्षों तक, सभी प्राणी स्वभावतः ही हर तरह के

१. दक्षिणापूर्वम्—दक्षिणाशब्दः पूर्वं यस्य, 'दक्षिणामूर्त्तिः' इति भावः। अथवा दक्षिणापूर्वकमूर्त्तिपदप्रतिपाद्यं यज्ज्योतिरित्यर्थः।
पुण्यपत्तनतः प्रकाशितायां चन्द्रिकाव्याख्यासम्वलितायां नैष्कर्म्यसिद्धेः भूमिकायां टिप्पणरूपेणोद्धृतभावतत्त्वप्रकाशिकाया मङ्गलाचरणे 'दक्षिणामूर्त्ति' शब्द एव वर्तते इति। भाष्यभावप्रकाशिका-चित्सुख्यादिष्वपि एतदेवास्ति।

२. सत्यानन्दपदाभ्यां प्रकाशितं, अथवा सत्यानन्दात्मकं यत्पदं पद्यते इति पदं, तेन स्फुरितम्, इत्यम्भावे तृतीया।अनेन च गुरुदेवतयोरैक्यमुक्तम्। (नयनप्रसादिनी २)। भाष्यभावप्रकाशिकायान्तु सत्यानन्दपदोत्थितमिति पाठो वर्त्तते।

३. पूर्वाचार्यवचोनुगा—इत्यंशं गृहीत्वा केचन आक्षिपन्ति यदेते नैष्कर्म्यसिद्धिटीका-चन्द्रिका-काराणामेव शिष्याः। परन्तु तदयुक्तम्। विषयेऽस्मिन् विस्तररूपेण भूमिकायां द्रष्टव्यम्।

४. निर्गतं कर्म यस्मात्स निष्कर्मा तस्य भावो नैष्कर्म्यं, तस्य सिद्धिर्निश्चयो यतो ग्रन्थात्सोप्युपचारेण नैष्कर्म्यसिद्धिः। 'निष्क्रिय'मिति (श्वे. ६.१९) श्रुतेः शिवो निष्कर्मा। शारीरकमीमांसाया एकदेशः—कर्मणोऽमोक्षहेतुता ज्ञानस्य तद्धेतुता, ज्ञापकवाक्यार्थ-प्रतिपत्तिकारणं, वाक्यार्थः, फलं नैष्कर्म्यं चेति—अत्र प्रकाशितो, न तु समन्वयादि-समस्तः शास्त्रार्थ इति प्रकरणमिदम्।

एव जिहासितत्वात्, तन्निवृत्त्यर्था प्रवृत्तिरस्ति स्वरसत एव। दुःखस्य च देहोपादानैकहेतुत्वात्, देहस्य च पूर्वोपचितधर्माधर्ममूल्वात्, अनुच्छित्तिः।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

प्रवृत्तिरस्ति स्वरसत एवेत्यनेन **ग्रन्थेन। आब्रह्म च ते स्तम्बपर्यन्ताश्चेत्या-ब्रह्मस्तम्बपर्यन्ताः, तैश्चतुर्मुखप्रभृतिभिः स्तम्बावसानैः** प्राणिभिरिति यावत्। **सर्वप्रकारस्याऽऽध्यात्मिकादिभेदभिन्नस्य**[1] स्वरसत एव **स्वभावत एव, अन्तरेणापि शास्त्राधेयसंस्कारमिति यावत्।**

इदमत्र तात्पर्यम्–**यद्यपि दुःखमतीतमतीत्वादेव न निवर्त्यम्; नापि वर्तमानं, स्वत एव निवृत्तेः; नाप्यनागतम्**[2], **अनुपस्थितेरेव निवर्तयितुमशक्यत्वात्; तथाप्यनागतं दुःखं तद्धेतुनिवर्तनेन शक्यमेव हन्तुम्, अतस्सम्भवत्येव निखिलदुःखनिवृत्तिकामोऽधिकारी। न च शङ्कनीयम्**–**अशेषदुःखकारणनिवृत्तौ सुखस्यापि निवृत्तेर्न दुःखकारणनिवृत्तिः पुरुषार्थ**–**इति; विषयदोषदर्शिनां वीतरागाणां वैषयिकं सुखं विषसंपृक्तान्नवद् दुःखपक्षनिक्षिप्तं पश्यतामत्र पुरुषार्थबुद्ध्यनुत्पत्तेः। अतो वैषयिकसुखाभिलाषप्रतिबन्धानामप्रवृत्तावपि, स्वतः सर्वदुःखनिवृत्तिकामस्सुलभ एवाधिकारीति।**

नन्वाध्यात्मिकदुःखस्य आधिव्याधिप्रसवस्य आयुर्वेदविहितोपायैः, आधिभौतिकस्य च शत्रुव्याघ्रादिजनितस्य, अन्वयव्यतिरेकसिद्धतत्तत्साधनैः, आधिदैविकस्य चातिवाव्यतिवर्षणादिनिमित्तस्य शान्तिकपौष्टिकादिना निवृत्तेः, न दुःखनिवृत्तिः प्रकरणस्य प्रयोजनम्, अन्यत एत सिद्धेरित्याशंक्य; आत्यन्तिकदुःखनिवृत्तिलक्षणप्रयोजनस्य प्रकरणप्रतिपाद्यात्मविद्याव्यतिरिक्त-साधनान्तराऽसाध्यत्वं दर्शयति–दुःखस्य **चेत्यादिना** अशेषपुरुषार्थपरि-समाप्तिरित्यन्तेन **ग्रन्थेन। देहस्य कार्यकारणसङ्घातलक्षणस्य उपादानम् अहं-**

दुःख से बचना चाहते हैं। इस स्वारसिक इच्छा के कारण दुःख हटाने की प्रवृत्ति नैसर्गिक है। दुःख का प्राथमिक कारण है स्थूल व सूक्ष्म शरीर को 'मैं' और 'मेरा' समझना तथा शरीर-परम्परा क्योंकि पूर्व-पूर्व जन्मों में अर्जित पाप-पुण्य के फलस्वरूप अनवरत

१. आध्यात्मिकादि—आदिपदेन आधिभौतिकं आधिदैविकञ्चेति। तत्र आध्यात्मिकम्—ज्वरादिशारीरिकं, प्रियवियोगात्मकमानसञ्चेति द्विविधम्। अन्तरोपायसाध्यत्वादाध्यात्मिकम् (सां.त.कौ.) आधिभौतिकम्—भूतान्यधिकृत्योत्पन्नं (दुःखम्) जरायुजाण्डजादिभ्य इति भावः। आधिदैविकम्—दैवमधिकृत्य यदुपजायते, अतिवृष्टि-अनावृष्ट्यादिकम्।

२. हेयं दुःखमनागतम् (पा.यो.द. २.१६)।

तयोश्च विहितप्रतिषिद्धकर्ममूलत्वादनिवृत्तिः। कर्मणश्च रागद्वेषास्पदत्वात्, रागद्वेषयोश्च शोभनाशोभनाध्यासनिबन्धनत्वात्[१], अध्यासस्य

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

ममग्रहः स एव एको मुख्यो हेतुर्यस्य तद् दुःखं देहोपादानैकहेतुस्तस्य भावस्तत्त्वं तस्माद्; दुःखस्यानुच्छित्तिरिति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः।

अत्रायमभिसन्धिः; सत्यपि देहे यद्यपि कदाचित् किञ्चिद् दुःखं निवर्त्यमानमुपलभ्यते तथापि समानाधिकरणदुःखान्तरप्रागभावासमानकालीन-दुःखनिवृत्तेर्देहोपादाने सत्यसम्भवात् तन्निवृत्तिरुपायान्तरसाध्येति।

एवमपि धर्माधर्मयोरुपभोगेनोपक्षये कारणाभावाद् देहसन्तानस्यापि विच्छेदो भविष्यतीति? तत्राह–तयोश्चेति। तयोरपि धर्माधर्मयोर्विहितप्रतिषिद्धे ये कर्मणी यजनब्रह्महननादिव्यापारलक्षणे[२] तज्जन्यत्वात् तयोस्स्थितौ न तन्निवृत्तिरित्यर्थः।

तयोरप्यनित्यत्वात् स्वयमेव विच्छेदो भविष्यति? इत्यत आह–कर्मणश्चेति। व्यक्तिरूपेण विच्छिद्यमानस्यापि कर्मजातस्य रागद्वेषप्रयोज्यत्वात्तयोः स्थितौ न तत्सन्तानविच्छेद इत्यर्थः। रागद्वेषयोरपि स्वत एव निवृत्तिमाशङ्क्याह–रागद्वेषयोश्चेति। विषयेषु 'इदं शोभनं, रमणीयमिदम्' इति यः प्रत्ययः, यश्च तद्विपरीम् 'अशोभनमिदम्' इति प्रत्ययः तावव्यभिचारिणि विषये व्यभिचारित्वाद्विभ्रमभूमौ, तयोश्च स्थितयोर्न तज्जन्यरागद्वेषसन्तानस्य विच्छेद इत्यर्थः।

तयोरप्यध्यासयोरनित्यत्वात् स्वत एव निवृत्तिमाशङ्क्याह–अध्यासस्य चेति।

चलती है अतः सरलता से दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हो पाती। देहकारणीभूत कर्म कभी समाप्त नहीं होते क्योंकि शास्त्र में विहित या निषिद्ध कर्म व्यक्ति करता ही रहता है। कर्म करने के पीछे कारण है 'यह मुझे मिले, मेरे पास बना रहे'—ऐसा राग तथा 'यह मुझे न मिले, मुझसे हट जाये'—ऐसा द्वेष। राग-द्वेष तब होते हैं जब वस्तु आदि को 'अच्छा' या 'बुरा' समझा जाता है। यह अच्छा या बुरा मानना इसीलिये है

१. वस्तुनि रमणीयबोधजन्याध्यासः शोभनाध्यासः। तत्र रागो भवति। वस्तुनि अरमणीयबोधजन्यद्वेषात्मकोऽध्यासोऽशोभनाध्यासः।

२. 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत' इत्यादीनि विहितानि कर्माणि यजनपदार्थः।
'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' 'कलञ्जं न भक्षयेद्' इत्यादीनि प्रतिषिद्धानि श्रुतिप्रमाणात्।

चाविचारितसिद्धद्वैतवस्तुनिमित्तत्वात् द्वैतस्य च शुक्तिकारजतादिवत् सर्वस्यापि स्वतःसिद्धाद्वितीयात्मानवबोधमात्रोपादानत्वात्, अव्यावृत्तिः।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

सर्वस्यापि विभ्रमप्रसरस्य, स्वतस्सिद्धत्वात् स्वयम्प्रभत्वाद् अद्वितीयो द्वितीयशून्यो योऽयमात्मा; द्वितीयस्य हि जडस्य स्वतस्सिध्यनुपपत्तेरात्मसिद्ध्यभिसम्बन्धात् सिद्धिरेष्टव्या, सम्बन्धस्समवाय-तादात्म्यादिलक्षणस्तु हिमदहनवद्विरुद्धस्वभाव-योर्जडाजडयोरनुपपन्न इति जडस्याजडतादात्म्याध्यासात् सिद्धिरभ्युपेया। अतः कल्पितत्वात् द्वैतस्य सिद्ध आत्माऽद्वितीयः; तस्य तस्मिन्[१] योऽयम् अनवबोधः स्वतस्सिद्धतया सततमद्वैतरूपेण प्रकाशप्राप्तौ तथा प्रकाशादर्शनाद्विपरीत-रूपप्रकाशदर्शनाच्च, तद्धेतुतया परिकल्पितः तन्मात्रोपादानत्वात् तस्मिन्विद्यमाने नाध्यासस्य निवृत्तिरित्यर्थः। तदेवमज्ञानस्याध्यासराग[२]-द्वेष[३]-प्रवृत्ति[४]-धर्माधर्म-देहोपादानपरम्परया[५] दुःखहेतुत्वात्तस्मिन् सति

कि विचार के बिना ही यथाप्रतीत भेद, नानात्व स्वीकार किया गया है। जिस प्रकार शुक्तिका को यथावत् न जानने से उसमें रजतबुद्धि होती है, उसी प्रकार नित्य अनुभूयमान तथा सर्वभेदरहित आत्मस्वरूप को न जानने से ही भेदप्रपंच अवस्थित है व जब तक वह न जानना रूप अज्ञान रहेगा, प्रपंच भी बना रहेगा। अतः समस्त कष्ट

१. तस्य तस्मिन्—तस्य विषयभूतस्य तस्मिन् आश्रयभूते। उक्तं हि संक्षेपशारीरके—
'आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः'॥ (सं.शा. १.३१९)

२. रागः—सुखानुशयी रागः (पा.यो.द. २-७) सुखाभिज्ञस्य सुखानुस्मृतिपूर्वः सुखे तत्साधने वा यो गर्धस्तृष्णा लोभः स रागः इति व्यासभाष्ये। काम-मत्सर-स्पृहा-तृष्णा-लोभादयोऽपि रागशब्दान्तर्गता इति नैयायिकाः।

३. द्वेषः—दुःखानुशयी द्वेषः। (पा.यो.द. २.८) दुःखाभिज्ञस्य दुःखानुस्मृतिपूर्वो दुःखे तत्साधने वा यः प्रतिघो मन्युर्जिघांसा क्रोधः स द्वेष इति व्यासभाष्ये। प्रतिकूलेष्वर्थेषु द्वेषः। (न्या.द.वा.भा. १.१.२) एकस्यानेकार्थदर्शिनो दर्शनप्रतिसन्धानात् दुःखहेतौ द्वेषः (न्या.द.वा.भा. १.१.१०)।

४. प्रवृत्तिः—प्रवृत्तिसाधनौ धर्माधर्मौ प्रवृत्तिशब्देनोक्तौ, यथान्नसाधनाः प्राणाः।
(न्या.द.वा.भा. १.१.२)

५. देहोपादानत्वात् परम्परयेति भावः।

अतः सर्वानर्थहेतुरात्मानवबोध[१] एव। सुखस्य चानागमापायिनोऽपरतन्त्रस्य[२] आत्मस्वभावत्वात् तस्यानवबोधः पिधानम्[३]। अतस्तस्यात्यन्तोच्छित्तौ अशेषपुरुषार्थपरिसमाप्तिः। अज्ञाननिवृत्तेश्च

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

दुःखस्योपायान्तरेण न निवृत्तिरित्युपसंहरति– अत इति।

न केवलमसौ सर्वाऽनर्थहेतुरपि त्वात्मस्वभावतया सततमपरोक्षप्रकाशयोग्यतां प्राप्तस्य सुखस्यापि तिरोधायकस्ततस्तन्निवृत्तौ निरतिशयसुखावाप्तिरप्यस्मन्मते सम्यग्दर्शनात् सिध्यतीत्यभिप्रेत्याह–सुखस्य चेति। आगमश्चाऽपायश्चागमापायावुदयास्तमयौ तौ विद्येते यस्य तदागमापायि, न आगमापाय्यनागमापायि तस्य। तदेव कुत इत्यत आह–अपरतन्त्रस्येति। कारणानधीनस्येति यावत्। एतदपि स्वभावादात्मवद्। यद्वा, आत्मा सुखस्वभावः निरुपाधिकप्रेमास्पदत्वात्, सुखवदिति प्रयोगः। विपक्षे च निरुपाधिकप्रेमास्पदत्वासिद्धिरेव बाधिका। नहि दुःखनिवृत्तिरूपतया तस्य प्रेमास्पदत्वं, भावत्वाद्; नापि सुखसाधनतया दुःखनिवृत्तिसाधनतया वा, तयोर्निरुपाधिक प्रेमेति[४]। तदेवमनुमानात् 'एषोऽस्य परम आनन्द' इत्यागमतश्चात्मनस्सुखस्वभावत्वात्तस्य चापराधीनप्रकाशतया तत्त्वात्तथा प्राप्तप्रकाशस्य प्रतिबन्धकोऽनवबोध इत्यर्थः। फलितमाह–अतस्तस्येति। तस्य अनवबोधस्य अत्यन्तम् अनवशेषेण। 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्ति' रिति

का निश्चित निदान है आत्मयाथात्म्य को न जानना। अज्ञान[५] सब दुःखों का मूल है इतना ही नहीं, यह उस निस्सीम आनन्द को भी तिरोहित कर देता है जो आत्मा का, हमारा स्वाभाविक स्वरूप है। इसलिये आत्मा के अज्ञान की समाप्ति के कारण ही जीवमात्र का अभीप्सित दुःखनिवृत्तिपूर्वक परमसुखलाभ सम्भव है। क्योंकि अज्ञाननिवृत्ति कर्म आदि

१. सर्वानर्थहेतुरात्मानवबोध एव। सुखस्य चेत्यादि—अज्ञानस्य विक्षेपलक्षणानर्थहेतुतामेवमुपपाद्यानन्दाद्वयस्वरूपाप्रतीतिलक्षणविक्षेपकारणावरणहेतुतामुपपादयति सुखस्य चेति सारार्थः। (अत्राप्रतीतिलक्षण इत्यस्यावरणेऽन्वयः)।

२. अपरतन्त्रः—वस्तुतन्त्रः। सुखस्य विद्यमानत्वे सति सर्वे तस्यानुभवं कुर्वन्त्येव। सुखे विद्यमाने सुखं नानुभवामि, नानुभूतम्वेति न कोऽपि कथयति। सुखस्य ज्ञातैकसत्त्वात्।

३. तस्यानवबोधः पिधानम्—तस्य सुखात्मनोऽनवबोधः पिधानमावरणम्। सुखाप्रतीत्या विपरीतप्रतीतिहेतुः। (सारार्थः)

४. प्रमेयत्वमिति मातृकापाठः। 'तयोर्निरुपाधिकं न प्रेमेति'—इति युक्तः।

५. अज्ञानस्यावरणकृत्यमभिधाय विक्षेपकतामाहेतः।

सम्यग्ज्ञानस्वरूपलाभमात्रहेतुत्वात् तदुपादानम्। अशेषानर्थहेत्वात्मानवबोधविषयस्य चानागमिकप्रत्यक्षादिलौकिकप्रमाणाविषयत्वात्,

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

न्यायेनोच्छिन्नाऽवशेषस्य सकलदुःखनिवृत्तिरूपस्य निरतिशयानन्दाप्तिलक्षणस्य पुरुषार्थस्य परिसमाप्तिः स्यादित्यर्थः।

भवत्वेवं तथापि कर्मोपासनादि परिहारेण विशिष्टाधिकारिणः सम्यग्दर्शन एव कुतः प्रवृत्तिर्येन सम्यग्दर्शनाय प्रकरणारम्भसम्भव इत्यत आह–अज्ञाननिवृत्तेश्चेति। सम्यग्ग्रहणेनोपासनाज्ञानं व्यावर्तयति, स्वरूपलाभग्रहणेन ज्ञानाभ्यासं, मात्रपदेन च कर्मापेक्षाम्। तदेवमुपायान्तरपरिहारेणाऽधिकारिणः सम्यक्ज्ञानोपादानमेव सम्भवतीत्यर्थः। यद्यपि सम्यक् ज्ञानोपादानम्, तथापि तस्य प्रमाणान्तरादप्युपपत्तेर्वेदान्तप्रकरणादिषु तदर्थिनः कुतो नियमेन प्रवृत्तिरित्यत आह–अशेषेति। आगमिकमागमवाक्यजन्यमात्मसाक्षात्कारलक्षणमनुमानञ्च 'यत्प्राणेन प्राणिति'[१] 'येन वा पश्यति' इत्याद्यस्ति, तद्विषयत्वनिरासाशङ्कापनोदायाह–अनागमिकेति। कानि तानीत्याह–लौकिकप्रमाणेति। तेषां चात्मा न विषयः रूपाद्यभावात्, तत्संबन्यलिङ्गाद्यदर्शनाच्च। तदेवमनन्यसाधारणत्वादुपनिषदामेवात्मा विषय इत्याह–वेदान्तेति। आगमग्रहणञ्च 'वेदोषरा[२] वेदान्ता' इति मतनिरासेन प्रामाण्यसूचनाय। वाक्यग्रहणञ्च[३] न कर्मवाक्यशेषतया तत्रैकवाक्यत्वं किन्तु स्वतन्त्रतयैवेति द्योतनाय, एवकारश्च वाक्याभासादे[४]र्ज्ञानकारणत्वनिरासाय।

से निरपेक्ष आत्मप्रमा से ही हो सकती है, अतः वही उपादेय है। समस्तदुःखनिदानभूत आत्माऽज्ञान का विषय आत्मा शास्त्र से भिन्न लौकिक प्रत्यक्ष आदि प्रमासाधनों का विषय नहीं, फलतः वेदान्तशास्त्रसारभूत महावाक्यों से ही आत्मप्रमा उत्पन्न होती है। क्योंकि

१. 'यत्प्राणेन प्राणिति' इति वाक्यं उपनिषत्सु न दृश्यते। किन्तु 'यः प्राणेन प्राणिति' (बृ.उ. ३.४.१) इति श्रुतिः।

२. वेदोषरा—उषरः = मरुस्थलम्, तथैव वेदान्तस्य व्यर्थत्वमिति भावः।

३. तत्त्वमस्यादिमहावाक्यद्योतनायेति भावः।

४. आदिपदेन युक्त्याभासः ग्राह्यः। वाक्याभासः = मिथ्यावाक्यं श्रुतेः कदर्थो वा। तथाहि—'असद्वा इदमग्र आसीत्' (छा. ६.२.१) इति श्रुतिवाक्यं बौद्धाः असद्वादसमर्थकत्वेन यत् योजयन्ति तद्वाक्याभासः। युक्त्याभासोऽपि तथैव यद्वस्तु तच्छून्यावसानं, यथा दीपः।

वेदान्तागमवाक्यादेव सम्यग्ज्ञानम्। अतोऽशेषवेदान्तसारसंग्रह-प्रकरणमिदमारभ्यते।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

इदानीं प्रकरणलक्षणमुपपादयन् प्रकरणारम्भमुपपादितमुपसंहरति– अतोऽशेषेति। **यत उक्तरीत्या प्रयोजनादीनां सद्भावः साधनान्तरानधीनञ्च प्रयोजनमत इत्यर्थः। अत्राशेषवेदान्तशब्देन शास्त्रं दर्शितम्। तत्रापि निष्प्रपञ्च-ब्रह्मप्रतिपादकशास्त्रैकदेशेन सम्बन्धद्योतनाय** सारग्रहणम्। **तत्रापि विस्तरेण प्रतिपादितस्य संक्षेपेण प्रतिपादनं कार्यान्तरं दर्शयितुं सङ्ग्रहग्रहणम्। तदेवम्–**

शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्।
आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विचक्षणाः॥

(प.उप.पु. १८.२१.२२)

इत्युक्तलक्षणलक्षितमिदं प्रकरणमिति।

इस प्रकार इस महत्प्रयोजन का लाभ साधनान्तर से असम्भव है। इसलिये निखिल वेदान्तों के मुख्य प्रतिपाद्य का संक्षेपरूप यह प्रकरणग्रन्थ प्रारम्भ किया जाता है।

कुछ आधुनिक व्याख्याता सम्प्रदायसिद्ध अज्ञानस्वरूप का प्रत्याख्यान कर 'अनवबोधो नाम अज्ञानं ज्ञानाभाव एव'—यह निराधार कल्पना प्रस्तुत करते हैं। प्रसंगतः इस मत का तत्तत्स्थल पर निरास किया जायेगा। मिथ्याज्ञान के लिये अज्ञान की आवश्यकता उक्त विद्वान् स्वीकारते ही हैं—'आत्माऽज्ञानमात्राद् द्वैतप्रतीतिस्तन्मात्रादेव च सुखस्यानवगमः'। विचार करने पर स्पष्ट होता है कि अज्ञान को अभावरूप मानना मनोरथमात्र है। अभाव से ध्वंस तो अभिप्रेत नहीं है यह तो स्पष्ट है। यदि भेद विवक्षित हो—ज्ञानभिन्नमज्ञानम्—तब कोई विवाद नहीं। यदि तात्पर्य अत्यन्ताभाव से हो, तब 'ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः' (श्व. १.११) आदि श्रुति ही निराकरण कर देगी क्योंकि अत्यन्ताभाव नित्य होता है। ज्ञानसामान्याभाव को अज्ञान मानने पर व्याघात दोष ध्रुव है, कारण कि प्रतियोगी और अनुयोगी के ज्ञान के रहते ज्ञानसामान्याभाव का अस्तित्व कोई निर्लज्ज ही स्वीकारेगा। ज्ञानविशेषाभाव को अभिप्रेत करने पर सौषुप्तानुभाव-विरोध से अतिरिक्त, घटज्ञानाभाव ही अज्ञान होकर घटज्ञान को मोक्षदायक बना हास्य का ही उत्पादक होगा, मतोपपत्ति का नहीं। ज्ञानप्रागभाव अज्ञान है, यह भी नहीं कह सकते क्योंकि प्रागभाव ही अनभिमत है। प्रागभाव विशेषाभाव है अतः 'पट नहीं है' आदि ज्ञान उसे सिद्ध नहीं कर सकता। प्रतियोगी उत्पन्न ही नहीं हुआ और अभावनिरूपण के

तत्राभिलषितार्थप्रचयाय प्रकरणार्थसंसूत्रणाय चायमाद्यः श्लोकः–

खानिलाग्न्यब्धरित्र्यन्तं स्रक्फणीवोद्गतं यतः।
ध्वान्तच्छिदे नमस्तस्मै हरये बुद्धिसाक्षिणे॥१॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

इदानीं प्रतिश्लोकं सम्बन्धोक्तिमारभमाणः प्रथमश्लोकस्य तात्पर्यं दर्शयन् सम्बन्धमाह– तत्राभिलषितार्थेति। तत्र **प्रकरणे** आद्यश्लोकोऽभिलषितार्थस्य, अभिलषितोऽर्थः **प्रकरणान्तस्तस्य** प्रचयाय **तस्य प्रचयश्शिष्यपरम्परया शिष्टपरिग्रहः,** तस्मै। **उपलक्षणमिदमविघ्नेन परिसमाप्तिशिष्टाचार-परिपालनयोरिष्टदेवतानमस्कारस्य विद्यायामन्तरङ्गसाधनत्वसूचनस्य च। प्रकरणस्यार्थो विषयः प्रयोजनञ्च तयोस्सम्यक् सूत्रणं संक्षेपेण सूचनं, तस्मै च। तत्र हेतुः**–आद्यश्लोक **इति। यस्मादयमाद्यस्तस्माच्छ्रोतॄणां प्रवृत्यङ्गतया सुखावबोधाय चात्रैव सूचनीयमुभयमिष्टदेवतानमस्कारश्च करणीय इति।** खानिलेति[१]। **अत्र** उद्गतमिति **कार्यजातमुच्यते। तदेव विशेष्यं, तस्यैव**

लिये उपलब्ध हो गया, यह भला कौन विचारशील मानेगा। 'घट बनेगा' आदि प्रतीति को प्रमाणतया उद्धृत करने वाले भूल जाते हैं कि इस प्रतीति में अभावमात्र ही विषय नहीं बन रहा, नञादि अभावबोधक पद भी नहीं है, तो प्रागभाव क्योंकर सिद्ध होगा! यह प्रतीति तो बननारूप धात्वर्थ की भविष्यत्ता को विषय करती है। भविष्यत्ता का अर्थ है प्रतियोगी और उसके ध्वंस के अनाधारभूत काल से सम्बन्ध (अद्वै.सि., पृ. ५५२)। अतः प्रागभाव ही जब अप्रसिद्ध है तो ज्ञानप्रागभाव से व्यवहार चल जाने की सम्भावना ही कहाँ? अतः बलात् अज्ञान को अभावविलक्षण मानना होगा और पारम्परिक अर्थ स्वीकारना होगा। सिद्धान्ती जब साग्रह अज्ञान को भावरूप सिद्ध करता है तब उसका तात्पर्य केवल उसे मिथ्या सिद्ध करने में है—'भावाभावविलक्षणस्याज्ञानस्याऽभावविलक्षणत्वमात्रेण भावत्वोपचारात्' (चित्सु., पृ. ९७); और यदि यह स्वीकृत हो तो विवादभूमि नहीं।

यह ग्रन्थ सम्प्रदाय-परम्परा से समझा जाता रहे, इस इच्छा से प्रकरण के विषय और प्रयोजन को संक्षेप में सूचित करते हुए इष्टनमनरूप मङ्गल प्रथम श्लोक से किया जाता है—**आकाश, वायु, आग, पानी और पृथ्वीरूप भूत भौतिक**

---

१. खानिलेति—खञ्चानिलश्चापश्चेति। अत्र अन्तशब्दः स्वरूपवचनः स्वप्नान्तं बुद्धान्तमित्यादिवत्। खानिलाग्न्यब्धरित्रीस्वरूपम्। यद्वा खानिलाग्न्यब्धरित्रीशब्देन

स्वसंप्रदायस्य चोदितप्रमाणपूर्वकत्वज्ञापनाय विशिष्टगुणसंबंध-संकीर्तनपूर्विका गुरोर्नमस्कारक्रिया–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

कार्यजातस्य विशेषणम् खानिलाग्न्यब्धरित्र्यन्तमिति[1]। **तत्र** स्रक्फणीव **यतो भवति** तस्मै ध्वान्तच्छिदे बुद्धिसाक्षिणे हरये नमः **इति सम्बन्धः**। **तत्र** स्रक्फणीवेत्यारम्भपरिणामव्युदासाय[2], हरये बुद्धिसाक्षिणे **इति सामानाधिकरण्यं प्रत्यगात्मपरमात्मनोरेकत्वलक्षणविषयद्योतनाय**। ध्वान्त **इति अज्ञाननिवृत्ति-लक्षणप्रयोजनकथनाय।।१।।**

उत्तर श्लोकतात्पर्यमाह–स्वसम्प्रदायस्येति[3]। **स्वेन प्राप्तो विद्योपदेशस्तस्य। च**शब्दो **देवतानमस्कारेण गुरुनमस्कारस्य समुच्चयार्थः। तस्य सम्प्रदायस्य** उदितः प्रमाणमाचार्यः–'आचार्यवान् पुरुषो वेद' इत्यादिश्रुतिभ्यः[4] तत्पूर्वकत्व-

---

प्रपंच जिसे न जानने से वैसे ही उत्पन्न हुआ है जैसे माला को न जानने से साँप; अज्ञान का समापन करने वाले, बुद्धि-साक्षी उस भगवान् श्रीहरि को नमस्कार है।।१।। यहाँ बुद्धिसाक्षितया श्रीहरि के निरूपण से अभेदरूप विषय और उन्हें अज्ञानसमापक बता प्रयोजन सूचित किया। एवं च अज्ञानसमाप्तिपूर्वक श्रीहरि से अभेद चाहने वाला अधिकारी है।

गुरु के उपदेश से ही हमें ज्ञान होता है, यह समझाने के लिये गुरु से महान् गुणों का नित्य सम्बन्ध बताते हुए इस श्लोक द्वारा उनका अभिनन्दन किया—**जिनसे**

पञ्चीकृतानि पञ्चमहाभूतानि उच्यन्ते, तानि भूतान्यन्तं लयं यस्य भौतिकस्य जगतस्तत्खानिलाग्न्यब्धरित्र्यन्तम्। यद्वा खानिलाग्न्यब्धरित्रीशब्देनापञ्चीकृतानि पञ्च-महाभूतान्युच्यन्ते, तानि भूतान्यन्तं यस्य पञ्चीकृतभूतलक्षणस्य जगतस्तत्खानिलाग्न्यब्ध-रित्र्यन्तमित्यनुपात्तं विशेष्यं बहुव्रीहित्वाज्जगदित्येकं पदमध्याहरणीयम्। अथवा उद्गतमिति कार्यजातमुच्यते। तदेव विशेष्यम्। तत्खानिलाग्न्यब्धरित्र्यन्तं कार्यजातं यतो भवतीति क्रियाध्याहारः। (नै.सि.च.)

१. धरित्री यस्यान्तं तद्धरित्र्यन्तमिति भावः।

२. विवर्त्तवाद एव स्वीकृत इति भावः।

३. सम्प्रदायः—सम्प्रदीयते गुरुणा शिष्यायेतिसम्प्रदायः वेदः। (न्या.कु.प्र.)

४. आदिशब्देन 'आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापत्' इत्यादि ग्राह्यम्।

अलब्ध्वातिशयं यस्माद् व्यावृत्तास्तमबादयः।
गरीयसे नमस्तस्मा अविद्याग्रन्थिभेदिने ॥२॥

नमस्कारनिमित्तस्वाशयाविष्करणार्थः–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

ज्ञापनाय। उचितप्रमाणेति[1] **वाक्येऽप्ययमेवार्थः**। विशिष्टगुणैराचार्यस्य **यस्सम्बन्धः तत्सङ्कीर्तनपूर्विका** गुरोर्नमस्कारक्रिया **प्रदर्श्यत इति शेषः। यद्वा, येयं नमस्कारक्रिया सा स्वसम्प्रदायस्योचितप्रमाणपूर्वकत्वज्ञापनायेति सम्बन्धः।**

अलब्ध्वेति। यस्माद् **गुरोरन्यत्र** अतिशयमलब्ध्वा तमबादयः **प्रत्ययाः विषयाभावादेव व्यावृत्य यस्मिन्नेव परिनिष्ठितास्तस्मै** गरीयसे नम **इत्यन्वयः। तत्र हेतुः** अविद्याग्रन्थिभेदिन **इति। स्वस्मादन्यैरभेद्याविद्याग्रन्थिभेदिन इति। स्वस्मादन्यैरभेद्याविद्याग्रन्थिभेदित्वात् गुरोरेवंविधता सिद्धैवेत्यर्थः।।२।।**

समनन्तरश्लोकाभिप्रायमाह–नमस्कारेति। **नमस्कारस्य निमित्तभूतो यस्स्वस्याशयोऽभिप्रायविशेषः, येनाभिप्रायेण नमस्कारः कृतः, तस्या-विष्करणार्थमुत्तरश्लोकः इत्यर्थः।**

उत्कृष्टतर कुछ न पाकर उत्कर्षसीमा के द्योतक तमप्-आदि प्रत्यय जिनमें ही स्थित हैं, अज्ञानरूप गाँठ खोलने वाले, उन सर्वश्रेष्ठ गुरु को प्रणाम है।।२।। गुरु का नाम लेना निषिद्ध होने से यहाँ नहीं लिया गया। साथ ही हर अध्येता निज गुरु को इस श्लोक से प्रणाम कर ले, इस भाव से भी नामग्रहण नहीं है। गुरु का यही उत्कर्ष है कि वह शिष्य के अज्ञान का निराकरण करे। आचार्य श्रीशंकर ने भगवान् सुरेश्वर को विद्योपदेश किया और उन्हें मोक्षपद प्राप्त कराया था, यह इतिहास प्रसिद्ध है। इसे 'अज्ञानरूप गाँठ को खोलने वाले' कह कर बताया। इससे आचार्य की ब्रह्मनिष्ठता भी कह दी क्योंकि अविद्याग्रन्थि को वही खोल सकता है जो आत्मज्ञानी हो—'एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरति' (मु. २.१.१०) यह आथर्वण मन्त्र है। 'गरीयस्' शब्द से स्पष्ट किया कि जो कोई भी गुरु है, उससे आचार्यपाद गुरुतर ही हैं। किं च तमबादि ही नहीं तरबादि भी इन्हीं में स्थिति पाते हैं यह सूचित कर दिया। श्रुति भी 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च' (श्वे. ६.८) कहती है।

जिस अभिप्राय से नमन किया उसे बताते हैं—**यद्यपि अन्य विद्वानों ने इस विषय पर प्रभूत प्रकाश डाला है तथापि गुरु की आज्ञा का पालन करते हुए, अशुद्ध मति वालों द्वारा जाने न जा सकने वाले, उपनिषदों में प्रतिपादित, तथा**

---

१. 'चोदितप्रमाणेति वा पदच्छेदः, तत्रायमेवार्थः' इति चन्द्रिकाकारः।

वेदान्तोदरसंगूढ संसारोत्सारि वस्तुगम्।
ज्ञानं व्याकृतमप्यन्यैर्वक्ष्ये गुर्वनुशिक्षया ॥३॥
किंविषयं प्रकरणमिति चेत्? तदुपन्यासः–
यत्सिद्धाविदमः सिद्धिर्यदसिद्धौ न किञ्चन[1]।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

वेदान्तविज्ञानं[2] वक्ष्य इति सम्बन्धः। किंप्रमाणकं तदिति अत आह– वेदान्तोदरसंगूढमिति। **वेदान्तानामुदरेष्वन्तः संगूढं संछन्नमशुद्धबुद्धिभिरप्राप्यत्वात्। किंविषयं तज्ज्ञानमित्यत्राह**–वस्तुगमिति। **समस्तद्वैतकल्पनाऽधिष्ठानभूतात्मतत्त्वविषयं तदित्यर्थः। बहुभिर्व्याकृतत्वात् किमिति त्वया तत्कथ्यत इत्यत आह**–व्याकृतमपीति। **बहुभिर्व्याकृतमपि** गुर्वनुशिक्षया **'त्वया ग्रन्थः करणीय' इति गुरोरनुशासनात् तदाज्ञापरिपालनायाहं वक्ष्ये इत्यर्थः।।३।।**

सामान्यतस्सिद्धं विशेषतोऽप्रसिद्धञ्च वस्तु विषयो भवति, ब्रह्म तु निस्सामान्यविशेषमद्वितीयत्वाद्, अतः कथन्तद्विषयत्वं प्रकरणस्येत्याक्षिपति–किं विषयमिति। **तत्साधनायोत्तरश्लोक इत्याह**–तदुपन्यास **इति। यद्विषयमिदं प्रकरणं तस्य विषयस्योपन्यास इति यावत्।**

यत्सिद्धाविति। **यस्य चिदात्मनः सिद्धौ अन्तःकरणादाभासोदयात्**

जिसे जान लेने पर समस्त दुःखरूप संसार समाप्त हो जाता है, उस आत्मज्ञान को मैं इस प्रकरण में समझाऊँगा॥३॥ मेरा प्रयास सफल हो इसके लिये प्रणाम किया। यद्यपि उचित होने से प्रणामरूप मंगल का ग्रन्थ प्रारम्भ में आचरण संगत है तथापि वह सफलकृत्य है यह बताते हुए उसमें रुचि उत्पन्न की गयी है। गुरु की आज्ञा से ग्रन्थ की रचना सूचित कर अपना अनभिनिवेश और कृतकार्यत्व स्पष्ट किया।

प्रकरण-प्रतिपाद्य विषय बताया—**अन्तःकरण से जिसका सम्बन्ध होने पर 'यह'–इस प्रकार बताया जा सकने वाला सारा प्रपंच ज्ञात होता है, जिसका**

---

१. यत्सिद्धाविदमः...किञ्चन 'अध्यस्तस्याधिष्ठानसत्तातिरिक्तसत्ताऽनङ्गीकारात्', 'अधिष्ठानावशेषो हि नाशः कल्पितवस्तुन' इति स्मरणात्, ब्रह्मैव सर्वेषामधिष्ठानम्।

२. विज्ञानमिति हस्तलिखितपुस्तके वर्त्तते।मूलानुसारेण 'ज्ञानम्' इत्येव युक्तमिति। 'ज्ञानं वक्ष्ये' इति चन्द्रिकाकारोऽपि। अत्र ज्ञायतेऽनेनेति व्युत्पत्तिः। अत्र खलु वाक्यप्रयोगानुकूलव्यापारो 'वच' धातोरर्थः। ततोऽन्वयः।

प्रत्यग्धर्मैकनिष्ठस्य याथात्म्यं वक्ष्यते स्फुटम् ॥४॥

विवक्षितप्रकरणार्थप्ररोचनाय अनुक्तदुरुक्ताप्रामाण्यकारणशङ्काव्युदासेन स्वगुरोः प्रामाण्योपवर्णनम्–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

स्फुटतरव्यवहारयोग्यत्वे सति इदमः **प्रमातृत्वादेरनात्मनो जडस्य** सिद्धिः **स्फुरणम्,** यदसिद्धौ **यस्यात्मनोऽन्तःकरणादाभासानुदयादप्रसिद्धौ स्फुटतरव्यवहारायोग्यत्वे सति** न किञ्चन[1] **प्रमात्रादिजडं सिद्ध्यतीति शेषः। तदेवं ब्रह्मणस्सामान्यतस्सिद्धिरुक्ता। अनिर्णीतप्रमाणाप्रमाणकरणिकाया[2] लोकप्रसिद्धेश्चिदात्मनि तस्मिन्भावात्। यद्यपि ब्रह्मासामान्यविशेषं तथापि तस्य सच्चिदात्मादि-साधारणाकारेण सिद्धावपि सर्वप्रपञ्चविभ्रमाधिष्ठाननित्यशुद्धबुद्ध-मुक्ताऽद्वितीयानन्दलक्षणासाधारणाकारेणासिद्धेस्सम्भवति प्रकरणविषयत्वमिति आह**–प्रत्यग्धर्मेति। **देहादिष्वात्मानात्मविवेकादनात्मतया बहिर्भावमापाद्यमानेषु प्रातिलोम्येनान्तरं[3] च वेत्ति इति प्रत्यगुच्यते साक्षी स चासौ धर्मश्चेति** प्रत्यग्धर्मः। **अविद्यातत्कार्ययोः स्वात्मन्यध्यस्तयोरधिष्ठानत्वेन धारणात् प्रत्यग्धर्म एकोऽसाधारणः निष्ठा पर्यवसानमस्येति प्रत्यग्धर्मैकनिष्ठस्तस्य। आत्मानमनतिक्रम्य वर्तत इति यथात्मं तस्य भावो** याथात्म्यमारोपित-**प्रपञ्चस्वभावविरोधि ब्रह्मतत्त्वम् तदेतदितस्ततो विस्तरेण शारीरके दर्शितमित्यस्पष्टमिह तु संक्षिप्यैकत्र विस्पष्टमुच्यत इत्याह**–वक्ष्यते स्फुटमिति।।४।।

स्फुटं वक्ष्यत इत्युक्तत्वात्, गुरुणा सम्यग्वेदान्तार्थो नोक्तो दुरुक्तो वेति गुरोरप्रामाण्यमज्ञानलक्षणं विपर्यासलक्षणं वा प्राप्तं तद्द्वारास्वस्यापि तत्प्राप्तम्, अतस्तन्निरासायोत्तरश्लोक इति सम्बन्धं दर्शयति– विवक्षितप्रकरणेति। **वक्तुमिष्टे**

सम्बन्ध न होने पर विषयतया कुछ भी नहीं जाना जाता तथा जिसे समझ लेने से भूत भौतिक समस्त जगत् निवृत्त हो जाता है उस साक्षी के स्वरूप को यहाँ स्पष्ट किया जायेगा॥४॥

उस अर्थ में रुचि उत्पन्न करने के लिये १. न कहना, २. पूरा न कहना या ३. गलत कहना रूप अप्रामाणिकता के कारणों की शंका हटाते हुए अपने गुरु की

---

१. न कस्यचन इति केचित्।

२. प्रमाणकरणीयलोक...इति चन्द्रिकापाठः। अत्र करणीयः = करणविषय इति भावः।

३. प्रातिलोम्येनान्तरमञ्चतीवेति चन्द्रिकायाम्।

गुरूक्तो वेदराद्धान्तस्तत्र नो वच्म्यशक्तितः ।
सहस्रकिरणव्याप्ते[1] खद्योतः किं प्रकाशयेत् ॥५॥

गुरुणैव वेदार्थस्य परिसमापितत्वात्, प्रकरणोक्तौ ख्यात्याद्य-प्रामाण्यकारणाशङ्का इति चेत्, तद्व्युदासार्थमुपन्यासः[2]–

न ख्यातिलाभपूजार्थं ग्रन्थोऽस्माभिरुदीर्यते ।
स्वबोधपरिशुद्ध्यर्थं ब्रह्मविन्निकषाश्मसु ॥६॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

प्रकरणस्यार्थे शिष्याणां रुच्युत्पादनाय अनुक्तदुरुक्तलक्षणयोरप्रामाण्यज्ञप्ति-हेतुभूतयोर्व्युदासेन स्वगुरोः प्रामाण्योपवर्णनं क्रियत इत्यर्थः।

गुरूक्त इति। **उक्तत्वादेवानुक्तिलक्षणमप्रामाण्यं नास्ति, वेदराद्धान्त-स्यैवोक्तत्वात् दुरुक्तिलक्षणमप्रामाण्यञ्च नास्तीति दर्शितम्। तत् किमभ्यधिकं त्वयोच्यत इति? नेत्याह**–तत्रेति। तत्र **वेदान्तराद्धान्ते न** वच्मि **अधिकमिति शेषः। तत्र हेतुः** अशक्तितः इति। **तत्र दृष्टान्तमाह**–सहस्रकिरणेति। **यद्वा, तत्रानुक्तं दुरुक्तं वा न वच्मीत्यर्थः।।५।।**

परिसमापितत्वात् **कात्स्न्येन सम्यगुक्तत्वात्। ख्यात्यादिकम्[3] एवाप्रामाण्यस्य कारणमग्रहणान्यथाग्रहणपूर्वकत्वात् ख्यात्याद्यर्थितायाः। तर्हि गुरुणैव वेदान्तराद्धान्तस्योपदेशसाहस्रिकादिप्रकरणे स्फुटं सम्यगुक्तत्वात् प्रकरणोक्ति-स्तवानर्थिकेत्यत आह**–स्वबोधेति। **निकषन्ति येषु हेम परीक्षितुं ते निकषाश्मानः। इह तु ब्रह्मविद एव निकषाश्मानस्तेषु स्वबोधस्य परिशोधनार्थमेतत् प्रकरणम्।**

प्रामाणिकता बताते हैं। आप्त गुरु द्वारा बताया होने से से विषय रुचिकर हो यह स्वाभाविक है—**श्रीगुरु द्वारा बताये वेदसिद्धान्त से अधिक मैं कुछ नहीं बताऊँगा क्योंकि उनसे अधिक बताने की मुझमें क्षमता नहीं। जब भगवान् भास्कर का प्रकाश व्याप्त हो तब जुगनू उस रोशनी में बढ़ोत्तरी नहीं कर सकता**।।५।। वैदिकता से प्रामाणिकता तथा गुरु-प्रबोधितता से साम्प्रदायिकता सूचित की।

जब वेद के पुरातन सिद्धान्त को गुरु ने ही बता दिया तो मेरा प्रयास प्रसिद्धि आदि अर्जित करने के लिये होगा, फलतः कृति में अप्रामाणिकता होगी, इस शंका की निवृत्ति के लिये कहा—**यह ग्रन्थ हम प्रसिद्धि, धनादि, या पूज्यता अर्जित करने के लिये**

१. सहस्रकिरणव्याप्ते 'गगने' इति शेषः।
२. 'आह' इति केचित्।
३. आदिपदेन लाभपूजानाम् ग्रहणम्।

अनर्थानर्थहेतुपुरुषार्थतद्धेतुप्रकरणार्थसंग्रहज्ञापनायोपन्यासः–

ऐकात्म्याप्रतिपत्तिर्या स्वात्मानुभवसंश्रया ।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

अनुक्तौ स्वबोधस्य परैः परीक्षितुमशक्यत्वाद्। एवं वक्तुः प्रयोजनमिदं दर्शितम्। श्रोतृणान्तु 'वक्ष्यते स्फुटमि'त्यत्रैव प्रयोजनं दर्शितम्।।६।।

तर्हि कियन्तोऽर्थाः प्रकरणेन प्रतिपाद्यन्त इत्याह–अनर्थेति। **अनर्थः, अनर्थहेतुः, पुरुषार्थः, तद्धेतुः इति प्रकरणेन चत्वारोऽर्थाः पूर्वोक्तविषयस्यैव प्रतिपादनाय प्रदर्श्यन्ते। ते चोत्तरश्लोकाभ्यां संगृह्योच्यन्त इत्यर्थः।**

ऐकात्म्येति। **एकोऽद्वितीय आत्मा एकात्मा तस्य भावः ऐकात्म्यं तद्विषया अप्रतिपत्तिरैकात्म्याप्रतिपत्तिरित्यविद्याया विषयो दर्शितः। इदानीमाश्रयोऽपि स एवेत्याह**–स्वात्मेति। **स्वश्चासौ आत्मेति स्वात्मा; स्वशब्देनारोपितात्मभावान् अहंकारादीन् व्यावर्तयति। स्वात्मा चासौ अनुभवश्चेति स्वात्मानुभवः स एव संश्रयो यस्यास्सा तथोक्ता। एवंभूताऽविद्या संसारस्य कर्तृत्वभोक्तृत्वलक्षणस्य**

नहीं लिख रहे। इसे तो इसलिये लिख रहे हैं कि आत्मवेत्ता गुरुजन रूप कसौटी पर हमारा ज्ञान परखा जाये।।६।।

परखने के लिये उपस्थापित वस्तु स्वच्छतम होती है, यह प्रसिद्ध है, अतः यहाँ प्रकट विचार सर्वथा परिष्कृत है यह ध्वनि है। ख्याति आदि यदि प्रयोजन हो तो तदनुकूल प्रतिपादन होने से प्रामाणिक न होगा। जैसे प्रशंसादि में तात्पर्य वाले अर्थवादों की प्रामाणिकता सन्दिग्ध रह जाती है, वैसे ही ग्रन्थ की स्थिति होगी। अतः स्पष्ट किया कि वे सब प्रयोजन नहीं। ज्ञान की शुद्धि की पहचान इसलिये आवश्यक है क्योंकि तभी गलतियों को सुधारा जा सकता है। वस्तुतः तो यह विनयोक्तिमात्र है, आचार्य के ज्ञान में न्यूनता की गन्ध भी सम्भव नहीं। अतएव ग्रन्थान्त में वे स्वयं कहेंगे कि दुःखी जनता के जन्मादि प्रवाह-अवरोध के उपाय-प्रदर्शन के लिये यह ग्रन्थ है (४.७६)। यह भी शंका नहीं की जा सकती कि पूर्वाचार्य की रचनाओं से प्रस्तुत प्रयास गतार्थ है क्योंकि सम्प्रदाय परम्परा का तात्पर्य ही यह है कि प्रत्येक आचार्य अपने अनुभव से परिशोधित कर विषय को यथोचित व यथावश्यक परिष्कृत कर उपस्थापित करें। बोधशोध व उपदेश दोनों प्रयोजन विरुद्ध नहीं, कारण कि उपदेशन करते हुए स्वयं ही शोधन होता जाता है। अतः वस्तुतः यहाँ ब्रह्मवित्त्वेन स्वयं का ही परामर्श समझना चाहिये। आचार्य स्वयं ब्रह्मवेत्ता हैं अतः जब वे ब्रह्मविचार व्यक्त करेंगे तब स्वयं अभिव्यक्ति का आलोचन हो जायेगा। यहाँ तक ग्रन्थ की भूमिका या प्राक्कथन समझना चाहिये।

प्रस्तुत प्रकरण में अनर्थ, उसका कारण, जीवों का इष्ट पुरुषार्थ और उसका

साऽविद्या संसृतेर्बीजं[1] तन्नाशो मुक्तिरात्मनः ॥७॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

बीजमुपादनमनर्थहेतुञ्च[2] दर्शयति–साऽविद्येति। **इदानीं पुरुषार्थं दर्शयति**–तन्नाशः **इति**। आत्मनो मुक्तिर्नाम **तस्याः अविद्याया निवृत्तिः। नान्या भावरूपोपासनासाध्याऽस्तीत्यर्थः।।७।।**

साधन—इन्हें बताना है, यह सूचित करते हैं—**अनुभव-स्वरूप आत्मा का अपनी ही वास्तविकता का अज्ञान ही 'मैं करने व भोगने वाला हूँ' इत्यादि रूप संसार का कारण है। उसका नाश, अर्थात् आत्मा का अपनी वास्तविकता को समझ लेना ही मोक्ष है**॥७॥ संसार ही अनर्थ है। संसार से घट पटादि वस्तुओं को न समझा जाये, क्योंकि वे स्वरूपतः अनर्थ नहीं, इसलिये 'मैं करने व भोगने वाला हूँ' इत्यादि संसार का स्वरूप स्पष्ट किया। संसार का हेतु अविद्या है यह ग्रन्थमुख में कहा जा चुका है। 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः' (गी. ५.१५) इत्यादि भगवद्वचन इसमें प्रमाण है। युक्तितः भी यही संगत है। संसार भेदमूलक है और भेद अविचारमात्रसिद्ध होने से मिथ्या अतएव आज्ञानिक है। भेद की निर्युक्तिकता का विस्तार आगे (२.७५) किया जायेगा। किं च आत्मस्थिति में कोई दुःख नहीं यह सौषुप्तादि अनुभव और इस लोकव्यवहार से सिद्ध है कि दुःख का ही कारण जिज्ञास्य होता है, स्वास्थ्यरूप आनन्द का नहीं। पुरुषार्थ मोक्ष ही है। यद्यपि पुरुषार्थ चतुष्टय प्रसिद्ध है तथापि मोक्ष से भिन्न स्थितियों में गौण पुमर्थता ही समझनी चाहिये। प्राच्य दर्शन किसी-न-किसी रूप में मोक्षवादी हैं। पाश्चात्य दर्शन-परम्परा ने मोक्ष की पुरुषार्थता को प्रमुखता नहीं दी। पाप और उसके फल से छुटकारा, जो कि प्रभु या मसीहे की शरण लेने का फल है, इतना ही प्रायः ईसाई आदि का मोक्ष है। आत्यंतिक दुःखनिवृत्ति इस प्रकार अभिप्रेत समझी भी जा सके तो भी परमानन्द प्राप्ति तो सर्वथा अनभिहित है। भारतीय आस्तिकों में जो मोक्ष में सुख नहीं मानते वे केवल पुण्यफलभूत सुख का निषेध करते हैं। नास्तिकों में तो केवल नकारात्मक मोक्ष मानने की दृढ प्रवृत्ति है। वस्तुतः जगत्-सत्यत्व का आग्रह रखने पर जैसा भी मोक्ष माना जा सकता है वह बन्धन ही है; 'द्वितीयाद्वै भयम्' (बृ. १.४.२), 'उदरमन्तरं कुरुतेऽथ तस्य भयम्' (तै. २.७.१)—यह वैदिक

१. संसृतिः—कर्तृत्वभोक्तृत्वरूपसंसारः। स एवानर्थहेतुः। अविद्यैव मुख्यतयाऽनर्थहेतुः, किन्तु कार्यकारणयोरभेदात् तादृशसंसारोऽपि अनर्थहेतुः भवति।

२. अनर्थमनर्थहेतुं चेति चन्द्रिकानुरोधात् पठनीयम्।

पुरुषार्थहेतोरवशिष्टत्वात् तदभिव्याहारः–

वेदावसानवाक्योत्थसम्यग्ज्ञानाशुशुक्षणिः[1] ।
[2]दन्दहीत्यात्मनो मोहं न कर्माप्रतिकूलतः ॥८॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

प्रतिज्ञातेषु त्रयाणामुक्तत्वाच्चतुर्थस्योपन्यासायोत्तरश्लोकइत्याह–पुरुषार्थहेतोरिति। वेदावसानेति। **तत्र** सम्यग्ग्रहणमुपासनाज्ञाननिवृत्त्यर्थम्। **सम्यग्ज्ञानाग्नेरविद्यातत्कार्यादिरशेषतो निवर्त्तकत्वलक्षणातिशयाभिप्रायेण दन्दहीतीति यङ्लुक् प्रयोगः। आशुशुक्षणिसादृश्यञ्च समर्थस्यापि प्रतिबन्धवशाद्दाह्यैकदेशस्य प्रारब्धभोगादेरनिवर्तकत्वाभिप्रायेण। एवं मोक्षलक्षणपुरुषार्थसाधनं ज्ञानमेवेत्युक्तम्। तत्र कर्मणो ज्ञानेन समुच्चितस्यासमुच्चितस्य वा मुक्तिसाधनत्वं विस्तरेण निराचिकीर्षुस्संक्षिप्य तावत् प्रतिजानीते**–न कर्मेति। **तत्र हेतुः** अप्रतिकूलत **इति। निवर्त्येन बन्येन स्वरूपतो विषयद्वारा वा जडस्याप्रमाणभूतस्य कर्मणो विरोधाभावादित्यर्थः।।८।।**

डिण्डिम है। अतः भोगसाम्यरूप सायुज्य को ही मोक्ष मानने वाले रामानुजीय दर्शन भी श्रुति-सम्मत मोक्ष को नहीं स्वीकारता यह जानना चाहिये। अतएव नितान्त द्वैती माध्वादि भी श्रौत मोक्षवादी नहीं समझे जा सकते। एवं च अद्वैत दर्शन ही वास्तविक मोक्षवादी है जिसमें मोक्ष ही स्वरूप अतः सत्य है।

पुरुषार्थ का साधन बताना अवशिष्ट है, उसे बताते हैं—**वेदसिद्धांत के बोधक वाक्य-श्रवण से उत्पन्न यथार्थ ज्ञानरूप अग्नि आत्मसम्बन्धी अज्ञानरूप अन्धकार को ऐसा समाप्त कर देती है कि वह पुनः हो न पाये। यह कार्य मानस या कायिक कर्म नहीं कर सकते क्योंकि जड कर्म न स्वरूप से अविद्या-विरोधी है और न उनके विषय ही उसके विरोधी हैं**॥८॥ यतः अज्ञान बन्धनिदान है अतः ज्ञान ही मोक्षहेतु सम्भव है। यथार्थ ज्ञान प्रमाण से ही होता है; अप्रमाणजन्य ज्ञान

१. सम्यग्ज्ञानाशुशुक्षणिः—आशुशुक्षणिः = अग्निः आशोष्टुमिच्छति, आङ्पूर्वाच्छुष्यतेः। (दि.प.अ.) सन्नन्तात् (अङि शुषेः सनश्छन्दसि) (उ. २.१०६) इत्यनिः। छान्दसानामपि क्वचिद्भाषायां प्रयोगः। अध्वर्युक्रतु—(२.४.४) इति ज्ञापकात्। आशु शीघ्रं आशुं व्रीहिं वा शु क्षणोति। 'क्षणु हिंसायाम्' (त.उ.से.) इन् (उ. ४.११८) शु इति पूजार्थमव्ययम्। 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा'(गीता ४.३७)।

२. दन्दहीति—समूलघातं हन्ति। ऐकान्तिकात्यन्तिकोच्छेदं करोतीति भावः।

प्रतिज्ञातार्थसंशुद्ध्यर्थं पूर्वपक्षोक्तिः। तत्र ज्ञानमभ्युपगम्य तावदुपन्यासः–

मुक्तेः क्रियाभिः सिद्धत्वाज्ज्ञानं तत्र करोति किम्।
कथं चेच्छृणु तत्सर्वं प्रणिधाय मनो यथा ॥९॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थनिर्णय इति न्यायात् ज्ञानमेव मुक्तिसाधनं न कर्मेति प्रतिज्ञातस्यार्थस्य संशुद्ध्यर्थं पूर्वपक्षोक्तिः क्रियत इति उत्तरग्रन्थसन्दर्भस्य तात्पर्यमाह–प्रतिज्ञातेति। तत्र पूर्वपक्षो द्विविधः–यथाऽवस्थिताऽऽत्मवस्तुविषयं ज्ञानं केचिदिच्छन्ति, केचिन्नेच्छन्ति। तत्र ये तावदेवंविधं ज्ञानमभ्युपगम्यापि कर्मैव मोक्षसाधनमिति मन्यन्ते तन्मतप्रदर्शनाय 'अभ्युपेत्यैवमुच्यत' इत्यतः (श्लो. १४) प्राक्तनो ग्रन्थ इत्याह–तत्र ज्ञानमिति। ज्ञानिनोऽपि यागादि, श्रुतिचोदितकर्मणामकरणे[1] प्रत्यवायहेतूनामवश्यानुष्ठेयत्वात्, तैरेव मोक्ष-सिद्धेर्विद्यमानमपि विज्ञानमकिञ्चित्करमित्याह–मुक्तेरिति[2]। कर्मणामनित्य-फलसाधनानां[3] कथं नित्यमोक्षसाधनत्वमिति शङ्कते–कथञ्चेदिति। स्वरूपावस्थानलक्षणायाः मुक्तेरसाध्याया अपि प्रतिबन्धतिरोधानात्सिद्धिं सम्भावयाम इत्याह–शृण्विति।।९।।

संसारस्याविद्याहेतुत्वमभ्युपगच्छतापि कर्महेतुत्वस्य 'पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति' 'कर्मणा बध्यते जन्तु'रित्यादिश्रुतिस्मृतिभ्योऽवश्याश्रयणीयत्वात्

असमीचीन होने से मोक्षोपयोगी कथमपि सम्भव नहीं। अतः प्रमाणभूत वेदान्तों का मननादिसहकृत श्रवण ही मोक्ष का असपत्न उपाय है।

प्रतिज्ञात वास्तविकता के निर्णयार्थ 'ज्ञान से कोई लाभ नहीं'—ऐसा मानने वाले सिद्धान्त की ओर से युक्तियाँ उपस्थित की जाती हैं। पहले उनका मत बताते हैं जो निष्फल ही सही, वास्तविक ज्ञान स्वीकारते हैं; **मोक्षलाभ क्रियासाध्य है, उसके लिये ज्ञान क्या कर सकता है? कर्म कैसे मोक्ष देगा? बताते हैं, ध्यान देकर सारी प्रक्रिया सुनो॥९॥ वेदादि में जिसे करने का निषेध है उसे, तथा कामनाप्रयुक्त कर्म को न करते हुए जो व्यक्ति उन कर्मों का विधिवत् अनुष्ठान**

१. 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुह्वादि'त्यादियावज्जीवादिश्रुतिचोदितकर्मणामकरणइति भावः।
२. कर्मणैव मोक्षस्य सिद्धत्वात् ब्रह्मज्ञानमनर्थकं विद्यमानस्याप्यकिञ्चित्करत्वादिति भाट्टाः प्रतिपेदिरे इति भावः।
३. 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' इति च श्रुतेः।

अकुर्वतः क्रियाः काम्या निषिद्धास्त्यजतस्तथा।
नित्यनैमित्तिकं कर्म विधिवच्चानुतिष्ठतः ॥१०॥
किमतो भवति?
काम्यकर्मफलं तस्माद्देवादीमं न ढौकते।
निषिद्धस्य निरस्तत्वान्नारकीं नैत्यधोजनिम् ॥११॥

देहारम्भकयोश्च धर्माधर्मयोर्ज्ञानिना सह कर्मिणः समानौ चोद्यपरिहारौ–

वर्तमानमिदं याभ्यां शरीरं सुखदुःखदम्।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

काम्यप्रतिषिद्धविहिताकरणलक्षणनिमित्तपरिहारेण[1] नैमित्तिकस्य तस्य स्वरूपावस्थानच्युतिलक्षणस्य परिहारात् स्वरूपावस्थितिलक्षणा मुक्तिर्ज्ञानं विनापि सिद्ध्यतीत्याह–अकुर्वत इति। मुक्तिर्भवतीति शेषः।।१०।।

अतः काम्यादिवर्जनादिसाधनात् स्वरूपेण साधनान्मुक्तिः[2] केन द्वारेण भवतीति पृच्छति–किमत इति। देवादि देवतादिफलं[3] काम्यकर्मत्यागिनम् इमं न ढौकते न स्पृशति निमित्ताभावात् निषिद्धस्य निरस्तत्वात् परिहृतत्वात् नारकीं नरकसम्बन्धिनीं जनिं शरीरग्रहणं न प्राप्नोति। उपलक्षणमेतत् तिर्यगादिजन्मप्राप्तेरपि।।११।।

भवत्वेवमप्रारब्धफलयोः कर्मणोः परिहारः, प्रारब्धफलयोस्तु कथमित्यत आह–देहेति। प्रारब्धफलयोः कर्मणोः भोगादेव क्षय इत्यत्र नावयोर्विवाद इत्युत्तरश्लोकस्य तात्पर्यमुक्तम्।।१२।।

करता है जिन्हें प्रतिदिन या कारणविशेष उपस्थित होने पर करने का शास्त्रीय विधान है, उसकी मुक्ति हो जाती है॥१०॥

ऐसा करने से क्या होगा, यह बताया—**क्योंकि कामना से कर्म नहीं किया गया अतः कामनापूर्वक किये कर्म का जो देवतास्वरूप की प्राप्ति आदि फल होना चाहिये, वह प्राप्त नहीं होगा। निषिद्ध कर्म न करने से शरीर-ग्रहणरूप नरक का नीच जन्म न होगा॥११॥** अवश्य करणीय कर्म—नित्य व नैमित्तिक—किसी फल के उत्पादक नहीं माने जाते।

वर्तमान देह में जिन पुण्य-पापों ने फल प्रदान प्रारम्भ कर दिया उनके विषय में

१. 'काम्यप्रतिषिद्धकरण-विहिताऽकरणलक्षण...' इत्यादिचन्द्रिकानुसारीपाठो युक्तः।
२. 'स्वरूपावस्थानलक्षणामुक्तिः' इति चन्द्रिकापाठ इहापि भवेत्। ३. देवत्वादीत्यर्थः।

आरब्धं पुण्यपापाभ्यां भोगादेव तयोः क्षयः ॥१२॥

काम्यप्रतिषिद्धकर्मफलत्वात् संसारस्य तन्निरासेनैव अशेषानर्थनिरासस्य सिद्धत्वात् किं नित्यानुष्ठानेनेति चेत्? तन्न। तदकरणादप्यनर्थप्रसक्तेः–

नित्यानुष्ठानतश्चैनं प्रत्यवायो न संस्पृशेत्।
अनादृत्यात्मविज्ञानमतः कर्माणि संश्रयेत् ॥१३॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

काम्यप्रतिषिद्धकर्मनिमित्तत्वात् संसारस्य भवतु तत्परिहारेण परिहारः, नित्यनैमित्तिकानुष्ठानं पुनरनुपयुक्तं तयोस्सुखदुःखासाधनत्वात् मोक्षस्य कर्मजन्यत्वानङ्गीकाराच्चेत्याक्षिपति–काम्येति। **समाधत्ते**–न, तदकरणादपीति। **नित्याकरणस्य संसारानर्थकारणप्रत्यवायहेतुत्वात्। प्रत्यवायपरिहारद्वारेण तदनुष्ठानमप्युपयुक्तम्। कथमकरणादभावात् प्रत्यवायस्य भावस्योत्पत्तिरिति च नाशङ्कनीयम्। योग्यानुपलब्धेरेव ज्ञानहेतुत्ववदकरणस्यापि प्रत्यवाय-हेतुत्वोपपत्तेरिति भावः। तदेतदाह**–नित्यानुष्ठानत इति। **अवान्तरप्रकरण-मुपसंहरति**–अनादृत्येति। **अभ्युपगतेऽपि ज्ञाने कर्मैव मोक्षसाधन-मित्यर्थः।।१३।।**

ज्ञान भी रोक नहीं लगा सकता ऐसा ज्ञान से मोक्ष मानने वाले को स्वीकृत है; अतः इस विषय में कर्म से मोक्षवादी और ज्ञान से मोक्षवादी का ऐकमत्य है कि प्रारब्ध भोग से ही निवर्त्य है।—**सुख-दुःख देने वाला यह वर्तमान शरीर जिन पुण्य-पापों से प्रारम्भ हुआ है, वे तो भोग चुकने पर समाप्त हो जायेंगे**॥१२॥

इच्छापूर्वक किये कर्म व निषिद्ध कर्मानुष्ठान संसाररूप फल देते हैं। इन दोनों के अभाव में अनर्थनिवृत्ति अर्थसिद्ध है। जब इतना ही पर्याप्त है तब अवश्य कर्तव्य नित्य-नैमित्तिक कर्म व्यर्थ हैं, ऐसा नहीं मान लेना चाहिये; कारण कि उन्हें करने से यद्यपि कोई फल नहीं होता तथापि न करने से अनर्थ-प्राप्ति निश्चित है।

जो तो अवश्य करणीय कर्म कर लेता है उसे उन्हें न करने से होने वाला पाप भी नहीं होता जो किसी अनर्थ का कारण बने। अतः कर्म से मोक्ष होने के कारण आत्मा को जानने का निष्फल प्रयास न कर उक्त प्रकार से कर्म ही करने चाहिये।।१३॥

अभ्युपेत्यैवमुच्यते, न तु यथावस्थितात्मवस्तुविषयं ज्ञानमस्ति तत्प्रतिपादकप्रमाणाभावात्।

यावन्त्यश्चेह विद्यन्ते श्रुतयः स्मृतिभिः सह।
विदधत्युरुयत्नेन कर्मातो भूरिसाधनम् ॥१४॥
स्यात् प्रमाणासम्भवो भवदपराधाद् इति चेत्? तन्न। यतः–
यत्नतो वीक्षमाणोऽपि विधिं ज्ञानस्य न क्वचित्।
श्रुतौ स्मृतौ वा पश्यामि विश्वासो नान्यतोऽस्ति नः ॥१५॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

अभ्युपगतञ्चेत् ज्ञानं तत एव मुक्तिः स्वीक्रियतां 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेती'त्यादिश्रुतेरित्याशङ्क्य, इदानीं द्वितीयं[1] पूर्वपक्षमाह–अभ्युपेत्येति। **प्रमाणाभावमेव दर्शयति**–यावन्त्य इति। उरुयत्नेन **महता तात्पर्येण** भूरिसाधनं **मोक्षं प्रत्यपि पुष्कलं कारणमित्यर्थः।।१४।।**

वेदानां शक्तितात्पर्यापरिज्ञानविजृम्भितमिदं प्रमाणाभाववचनमिति शङ्कते–स्यात्प्रमाणेति। **एतदुत्तरत्वेनोत्तरश्लोकमवतारयति**–तत्रेति। **अध्ययनविधि-परिगृहीतानां[2] वैदिकशब्दानां निष्प्रयोजनतानुपपत्तेः प्रयोजनस्य च प्रवृत्तिनिवृत्तिसाध्यत्वात् प्रवृत्तिनिवृत्योश्च क्रियाविषययोः परिनिष्पन्ने वस्तुन्यसम्भवात् सिद्धार्थे वेदान्तानां तात्पर्यं न सम्भवतीत्याह**–यत्नत इति। यत्नतस्तात्पर्यतः वीक्षमाणः **पर्यालोचयन्नपि ज्ञानस्य** विधिं **विज्ञानविषयं विधिं 'द्रष्टव्य' इत्यादिवाक्यं पश्यन्नपि प्रदर्शितप्रयोजकपर्यालोचनया** न पश्यामि, **कर्मप्रवृत्तिहेतुभूतकर्त्रात्मज्ञानविधिपरत्वात्तस्य मोक्षसाधनज्ञानविषयत्वा-भावादित्यर्थः। श्रुतिस्मृतिनिरपेक्षाणामपि मोक्षाय ज्ञाने प्रवृत्तिस्सौगतादेर्दृश्यत इत्यत्राह**–विश्वास इति। **वेदप्रमाणानुसारिणामस्माकं श्रुतिस्मृतिव्यतिरेकेण न प्रवृत्तिः, इतरप्रवृत्तेर्भ्रान्तिमूलकतया प्रामाणिकत्वाऽनङ्गीकारादित्यर्थः।।१५।।**

'ज्ञान से कोई लाभ नहीं' यह तो इतना मानकर कहा कि आत्मस्वरूप का ज्ञान हुआ करता है। वस्तुतः तो आत्मा की वास्तविकता का ज्ञान होता ही नहीं क्योंकि उसका उत्पादक कोई प्रमाण नहीं। **सभी विद्यमान स्मृतियों व श्रुतियों का कर्मविधान में ही तात्पर्य है, वे कर्म का ही विधान करती हैं, अतः कर्म ही मोक्ष का पुष्कल साधन है**॥१४॥

'सम्भव है प्रमाण हो, आपके ढूँढने की कसर से आपको न मिला हो?'—ऐसी

---

१. श्लोक ९ अवतरणिकाटीकायामुपन्यस्तम्।
२. 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' (तै.आ. २.१५.७) इति श्रुतेः।

स्यात् प्रवृत्तिरन्तरेणापि विधिं, लोकवद् इति चेत्? तन्न। यतः–
अन्तरेण विधिं मोहाद्यः कुर्यात्सांपरायिकम्।
न तत्स्यादुपकाराय भस्मनीव हुतं हविः ॥१६॥

अभ्युपगतप्रामाण्यवेदार्थविज्जैमिन्यनुशासनाच्च–
आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमितोऽन्यथा।
इति साटोपमाहोच्चैर्वेदविज्जैमिनिः स्वयम् ॥१७॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

ज्ञानादज्ञाननिवृत्तेरन्वयव्यतिरेकसिद्धत्वात् किमत्र विधिनेत्याशङ्क्योत्तर-श्लोकमवतारयति–स्यात्प्रवृत्तिरिति। **सत्यमज्ञाननिवृत्तिमात्ररूपं चेत् कैवल्यं तदैवं स्यात्, नत्वेवम्, अशरीरत्वलक्षणस्य कैवल्यस्य देहपातोत्तरकालीनतया अदृष्टफलत्वात् ज्ञानस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यां तत्साधनत्वावगमानुपपत्तेः, जीवन्मुक्तेश्च परिभाषामात्रत्वादित्याह**–अन्तरेणेति। साम्परायिकं **पारलौकिकफलं कर्म।।१६।।**

न केवलं युक्तिभिरेव, आप्तवाक्यादपि वस्तुपरत्वं वेदस्य न सिध्यतीत्याह–अभ्युपगतेति। **अभ्युपगतं प्रामाण्यं यस्य सोऽभ्युपगतप्रामाण्यः स चासौ** वेदार्थविच्चेति **समासः। तस्य जैमिनेः** अनुशासनाद् **वाक्यादित्यर्थः।** आम्नायस्य **वेदस्य** क्रियार्थत्वात् **कार्यपरत्वाद् अतः**[1] अन्यथाऽक्रियार्थत्वे

शंका मत रखना, क्योंकि—**बहुत प्रयत्न से खोजने पर भी वेद व तदनुसारी स्मृतियों में ज्ञान की विधि कहीं न मिली। इनसे अतिरिक्त ग्रन्थों पर तो विश्वास नहीं किया जा सकता**॥१५॥

'देखने में आता है कि जिसे जान लेते हैं उसका अज्ञान हट जाता है। इस अनुभव के अनुसार आत्मा को जानने की शास्त्रीय विधि के बिना भी उसे जानने का प्रयत्न सम्भव है। और उसे जान लेने पर अनर्थ निवृत्त हो जायेगा'।—ऐसा भी नहीं कह सकते। मोक्ष तो मृत्यु के बाद होता है, अतः उसके सम्बन्ध में लोक दृष्ट नियम नहीं, शास्त्रीय नियम ही कार्यकारी होता है।—**विधि के बिना अविवेक से यदि कोई पारलौकिक कर्म किया जाये, तो वह राख में डाली सामग्री की तरह कोई लाभ नहीं करता**॥१६॥ मोक्ष भी पारलौकिक फल होने से यथाविधि ही प्राप्य है।

वेदार्थ के ज्ञाता, जिनकी प्रामाणिकता सर्वमान्य है, ऐसे महर्षि जैमिनी ने भी यही

१. अत्र 'इत' इतिमूलानुरोधात्पठनीयम्।

मन्त्रवर्णाच्च–
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
इति मन्त्रोऽपि निःशेषं कर्मण्यायुरवासृजत् ॥१८॥

ज्ञानिनश्च वस्तुनि वाक्यप्रामाण्याभ्युपगमात्, वाक्यस्य च क्रियापदप्रधानत्वात्, ततश्च अभिप्रेतज्ञानाभावः।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

सत्यानर्थक्यं, **'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानामि'ति** वदता **दर्शितमित्यर्थः।** साटोपं **ससम्भ्रमं** आहेति **क्रियाविशेषणम्।।१७।।**

वेदवचनादप्येवमित्याह–मन्त्रवर्णाच्चेति। **अध्यात्माधिकारे पठितोऽयं मन्त्रो मुमुक्षोरपि** निश्शेषमायुः कर्मणि **कर्मानुष्ठान एव** अवासृजद् **उत्सृष्टवान् विनियुक्तवान्, यावज्जीवं कर्मैवानुष्ठेयमिति दर्शितवानित्यर्थः।।१८।।**

एवं तात्पर्याभावाद्वस्तुपरतेत्युत्तरश्लोकतात्पर्यमाह[1]–ज्ञानिनश्चेति। ज्ञानिनोऽपि वस्तुनि **वाक्यं प्रमाणमित्यत्र न विवादः। तच्च वाक्यं सत्येव क्रियापदे निराकांक्षबुद्ध्युत्पादकम्। 'शुक्लां दण्डेन गाम्' इत्येतावन्मात्रप्रयोगे सति, असति क्रियापदे, निराकांक्षबुद्ध्युत्पत्त्यदर्शनात्। एवञ्च वेदस्यापि क्रियापरत्वात्, क्रियायाश्च साध्यैकविषयत्वात्, न सिद्धवस्तुपरो वेदभागोऽस्तीत्यर्थः।**

पदार्थानां स्वरूपेण प्रमाणान्तरसिद्धत्वाच्छ्रोतृणां तावन्मात्रप्रतिपत्तये पदानां प्रयोगायोगात्, संसर्गबोधाय तेषां प्रयोगोऽभ्युपेयः। स च संसर्गः कारकाणां न

कहा है—**वेद का तात्पर्य कुछ करना बताने में ही है। जो वेदभाग कुछ करने को न बताये वह बिना तात्पर्य से कहा जानना चाहिये। जैमिनि ने बहुत विचारपूर्वक यह सिद्ध किया है**॥१७॥मीमांसासूत्र १.२.१ का यहाँ परामर्श है।

आत्मा के बारे में बताने को प्रवृत्त हुआ वेदभाग भी यही कहता है—**'कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे'। यह मन्त्र (ईश. २) भी सम्पूर्ण जीवन को कर्म से व्याप्त करता है**॥१८॥

ज्ञान से मोक्ष मानने वाले भी आत्मा के विषय में वेदवाक्य को ही प्रमाण मानते हैं। वाक्य तभी होता है जब उसमें क्रियावाचक कोई शब्द हो। अतः वाक्य क्रिया बताने वाला ही हो सकता है। इसलिये औपनिषदों का अभीष्ट कर्मासम्बद्ध ज्ञान कथमपि सिद्ध

१. 'एवं तात्पर्याभावाद् वस्तुपरत्वं वेदस्य निराकृत्य सांप्रतं सिद्धार्थावबोधने सामर्थ्याऽभावादपि पदानां न वस्तुपरता—इत्युत्तरश्लोकतात्पर्यमाह' इति चन्द्रिका पाठः स एवात्र बोध्यः।

विरहय्य क्रियां नैव संहन्यन्ते[1] पदान्यपि।
न समस्त्यपदं वाक्यं यत्स्याज्ज्ञानविधायकम् ॥१९॥
ज्ञानाभ्युपगमेऽपि न दोषः। यतः–
कर्मणोऽङ्गाङ्गिभावेन स्वप्रधानतयाऽथ वा।
सम्बन्धस्येह संसिद्धेर्ज्ञाने सत्यप्यदोषता[2] ॥२०॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

क्रियां विनेति सर्वपदानां कार्यान्विते शक्तिरित्याह–विरहय्येति। **न च मन्तव्यं पदानां कार्यपरत्वेऽपि वाक्यात्सिद्धं वस्तु प्रतिपत्स्यामह इति, पदानामेव संहत्यार्थमभिदधतां वाक्यत्वात् तद्व्यतिरिक्तवाक्यस्याभावादित्याह**–न समस्तीति॥१९॥

एवं केवलेभ्यः कर्मभ्यः कैवल्यं, न सिद्धवस्तुविषयं ज्ञानमस्तीत्युक्तम्। इदानीं ज्ञानाभ्युपगमेऽपि, न तावन्मात्रं कैवल्यसाधनं, किन्तु कर्मसमुच्चित-मित्युत्तरश्लोकसम्बन्धमाह–ज्ञानेति। **कर्मणो नित्यनैमित्तिकादेरङ्गत्वेन ज्ञानस्य 'यदेव विद्यया करोती'तिवाक्यात्,** तदङ्गित्वेन वा **'यज्ञेन विविदिषन्ती' त्यादिवाक्येभ्यः,** स्वप्रधानतया **'विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सहे' त्यादिश्रुतिभ्यः परस्परं** सम्बन्धस्य **समुच्चयस्य** इह **कैवल्ये फले सिद्धेः** सत्यपि ज्ञाने **कर्मणः कैवल्यसाधनत्वे न कश्चिद्दोष इत्याह**–कर्मण **इति॥२०॥**

नहीं हो सकता।—**क्रिया के बिना शब्दों का अर्थ भी जाना नहीं जा सकता। बिना शब्दों का तो कोई वाक्य सम्भव नहीं जो क्रिया को छोड़ ज्ञान में तात्पर्य रखे। जब घटक ही क्रिया-सम्बद्ध हैं, तब तद्घटित वाक्य क्रिया-सम्बद्ध होना निश्चित है**॥१९॥ शब्दार्थ का प्राथमिक ज्ञान अन्यों के व्यवहार से होता है यह मान्य रीति है। बालक सुनता है कि किसी ने किसी अन्य को कहा 'गाय लाओ' और देखता है कि जिसे कहा गया वह सास्नादिवाले पदार्थ को ले आया। अतः बालक को 'गाय' शब्द का जो अर्थ ज्ञात होता है वह लाना-क्रिया से सम्बद्ध ही होता है। इसी मान्यता से यहाँ कहा कि शब्दार्थ क्रिया-सम्बद्ध होता है।

यदि मान भी लिया जाये कि वाक्य का तात्पर्य केवल ज्ञान में सम्भव है, तब भी हानि नहीं, क्योंकि—**या ज्ञान कर्म का अंग होगा, या कर्म ज्ञान का अंग होगा और या दोनों की बराबर प्रधानता होगी। इस प्रकार मोक्ष के लिये ज्ञान-कर्म**

१. न संहन्यन्ते—अन्वयबोधजनकवाक्यघटकतां न लभन्तइति भावः।
२. सत्यप्यदोषत इति पाठान्तरम्।

यस्मात् ज्ञानाभ्युपगमेऽनभ्युपगमेऽपि न ज्ञानान्मुक्तिः–
अतः सर्वाश्रमाणां हि वाङ्मनःकायकर्मभिः[1]।
स्वनुष्ठितैर्यथाशक्ति मुक्तिः स्यान्नान्यसाधनात् ॥२१॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

निरपेक्षं[2] ज्ञानं मुक्तिसाधनं न भवतीत्युक्तार्थोपसंहारभूतोत्तर-श्लोकगतातश्शब्दपरामृष्टं हेतुं दर्शयति–यस्मादिति। **नान्यसाधनत्वात् केवलात् ज्ञानान्मुक्तिः[3] स्यादित्यर्थः॥२१॥**

का समुच्चय आवश्यक होने से कर्म की मोक्षसाधनता पर आँच न आयेगी॥२०॥ तात्पर्य है कि शास्त्रीय ज्ञान कर्म से सर्वथा छूट नहीं सकता क्योंकि शास्त्र-वाक्यों से ही इनका सम्बन्ध भी ज्ञात है। 'जानकर करने से अधिक फल होता है' (छा. १.१.१०) आदि वाक्य ज्ञान को अंग बताते हैं। 'यज्ञादि से जानने की इच्छा करनी चाहिये' (बृ. ४.४.२२) आदि वाक्य कर्म को अंग बताते हैं। 'ज्ञान और कर्म का साथ-साथ अनुष्ठान मृत्यु को पार करा अमृत प्रदान करता है' (ईश. १५) आदि वाक्य दोनों की तुल्य प्रधानता बताते हैं। अतः मोक्ष की कारणता कर्म में सिद्ध करने में कोई कठिनाई नहीं।

इस प्रकार ज्ञान हो चाहे न हो, मोक्ष में तो वह उपयोगी नहीं, इसलिये **ब्रह्मचारी आदि सब आश्रम वालों को मोक्ष यथाशक्ति शास्त्रोक्तविधि से वाणी, मन और शरीर से निर्वर्त्य कर्मों द्वारा ही होना निश्चित है, और किसी साधन से नहीं**॥२१॥ मीमांसक भी मोक्ष मानते हैं और ज्ञान (उपासना) का उसमें सहकार स्वीकारते हैं। भट्टमत के मोक्षका मधुसूदनस्वामी ने इस प्रकार अनुवाद किया है—'ज्ञानकर्मसमुच्चयादेवात्मनो जडबोधात्मकस्य नित्यज्ञानं नित्यसुखं चोदेति, ततश्च विषयविशेषानपेक्षया नित्यज्ञानेन नित्यसुखाभिव्यक्तिर्मोक्षः' (वे.क. पृ. ७)। मानमेयोदयकार ने भी इसी प्रकार का मोक्ष बताया है—'दुःखात्यन्तसमुच्छेदे सति

१. वाङ्मनःकायकर्मभिः—'तत्र वाक्कर्माणि सत्यमितहितभाषणादीनि गुरुपूर्वकनिर्दोष-वेदाध्ययनानि च। मनःकर्माणि प्रसादभावशुद्ध्यादीनि। कायकर्माणि शौचाचारादीनि नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्ताचरणादीनि च यथायथं ज्ञेयानि।
२. कर्मनिरपेक्षमिति भावः।
३. यस्मान्मुक्तेः कर्मणोऽन्यत् साधनं न तस्मान्न केवलज्ञानान्मुक्तिरित्यर्थः। अत्र 'ज्ञानान्न मुक्तिः' इति चंद्रिकानुसरणेन पठनीयम्। चन्द्रिका तु अन्यसाधनात्-पदं केवलाज्ज्ञानादित्यनेन व्याकरोति।

प्रागात्मवर्तिनः। सुखस्य मनसा भुक्तिर्मुक्तिरुक्ता कुमारिलैः'॥ (द्रव्य. २५) देहेन्द्रियादि के आत्यन्तिक ध्वंस से सहकृत मन आत्मवर्ति-नित्यानन्द के ग्रहण का साधन है अतः संसारावस्था में उसका अननुभव है। मोक्ष में सुख व उसके ज्ञान की उत्पत्ति भाट्टाभिमत है ऐसा न्यायचन्द्रिका में भी बताया है (पृ. ५५०)। किन्तु शास्त्रदीपिका में प्रपंचसम्बन्धविलय को मोक्ष कहा है (पृ. १२५)। शरीर, इन्द्रिय और भोग्य विषय ही बन्धन करते हैं अतः इनसे अत्यन्त असम्बन्ध हो जाना मोक्ष है। मुक्ति-अवस्था में आनन्दानुभव का जन्यत्वेन अनित्यतापत्ति के कारण पार्थसारथि ने निराकरण किया है। तथा स्वरूपस्थिति, स्वस्थता ही मुक्तिस्वरूप कहा है—'ये ह्यागमापायिनो धर्मा बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्कारास्तानपहाय यदस्य स्वं नैजं रूपं ज्ञानशक्तिसत्ताद्रव्यत्वादि तस्मिन्नवतिष्ठते' (पृ. १३०)। नित्य आनन्द आत्मधर्म है जो मनसे अनुभूत होता है, इसका उन्होंने यह कहकर अनादर किया है। मोक्ष में मन का न होना श्रुति को अभिमत है—'न च मनसानुभवः सम्भवतीति मुक्तस्य मनसोऽभावात् अमनस्कत्वश्रुतेः' (पृ. १३०)। अत एव वे मोक्ष में आत्मानुभव भी नहीं मानते। इसलिये वे विज्ञानश्रुतियों का शक्ति में और आनन्दश्रुतियों का पुरुषार्थत्व में उपचार मान लेते हैं। दुःखाभाव से ही पुरुषार्थता हो सकती है अतः विरोध नहीं। इस प्रकार 'सुखोपभोगरूपश्च यदि मोक्षः प्रकल्प्यते। स्वर्ग एव भवेदेष पर्यायेण क्षयी च सः॥ नहि कारणवत् किंचित् अक्षयित्वेन गम्यते। तस्मात् कर्मक्षयादेव हेत्वभावेन मुच्यते॥ न ह्यभावात्मकं मुक्त्वा मोक्षनित्यत्वकारणम्'। (सम्बन्ध.श्लो. १०५-७) आदि वार्तिकों के आधार पर शास्त्रदीपिका का निर्णय है—'तस्मान्निःसम्बन्धो निरानन्दश्च मोक्षः' (पृ. १२८)। भगवान् भाष्यकार ने जहाँ मीमांसकमोक्ष का अनुवाद किया है, वहाँ उसे 'स्वरूपावस्थानलक्षणं कैवल्यम्' (ब्र.सू. ४.३.५.१४, पृ. ८८६) कहा है। अतः यही भाट्टों का मुख्य पक्ष मानना उचित है। मोक्ष में आनन्दानुभूति उनके एकदेशियों का मत स्वीकारा जा सकता है। प्राभाकरमत में तो स्पष्ट ही आनन्दस्थिति प्रत्याख्यात है। कल्पलतिका में सरस्वतीस्वामी ने उस पक्ष को बताया है—'वैदिककर्मानुष्ठानात् विहितात्मज्ञानपूर्वकात्, देहेन्द्रियादिसम्बन्धस्य धर्माधर्मपरिक्षयनिमित्तं आत्यन्तिकोच्छेद-लक्षणं मोक्षं मन्यन्ते' (पृ. ७)। नारायण पण्डित भी 'सकलबुद्ध्यादिविशेषगुणविलये सत्यात्मनः स्वरूपावस्थानं मोक्ष इति प्रभाकरमतम्' (मान.मे., पृ. १९९) स्वीकारते हैं। भाट्टचिन्तामणि में भी प्राभाकर सिद्धान्त में अभावात्मकमोक्ष का वर्णन किया है—'आत्यन्तिकदुःखप्रागभावो मोक्ष इति गुरवः' (पृ. ४२)। स्वयं शालिकनाथ ने तत्त्वालोकप्रकरण में मोक्ष पर विचार किया है। मोक्ष की पुरुषार्थता बताते हुए वे कहते हैं 'सांसारिकविविधदुःखोपरमरूपत्वान्मोक्षस्य' (पृ. २३४)। इतने से ही पुरुषार्थता सिद्ध

असदर्थप्रलापोऽयमिति दूषणसंभावनायाह–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

प्रदर्शितं पूर्वपक्षमुपहसितुमुत्तरश्लोक इत्याह–असदर्थेति। इति **एवंविधाः**

हो जाने पर 'एवं च परमानन्दाभ्युपगमोऽपि मन्दफल एव' (पृ. ३३५)। श्रुति-प्रोक्त आनन्द का अर्थ दुःखाभाव ही समझना चाहिये (५.३३८)। अतः उनका निगमन है 'आत्यन्तिकस्तु देहोच्छेदो निःशेषधर्माधर्मपरिक्षयनिबन्धनो मोक्ष इति युक्तम्' (पृ. ३४१)। उभयमत में ही ज्ञानकर्मसमुच्चय से मोक्ष है,ज्ञानशब्द से उपासना विवक्षित है। न्यायरत्नाकर में (सम्बन्ध.श्लो. ११०) 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि' (गी. ४.३७) आदि स्मृति को 'उपासनाभिप्रायमेव' कहा है। शालिकनाथ ने भी 'आत्मज्ञानेन 'न स पुनरावर्तत' इत्यपुनरावृत्तये चोदितेन' (पृ. ३४१) कहकर उपासना सूचित की है। काम्यप्रतिषिद्धत्याग पूर्वक नित्यनैमित्तिक को करना भी भाट्टों व प्राभाकरों में तुल्य है। शालिकनाथ ने 'शमदमब्रह्मचर्यादिकांगोपबृंहितेन (ज्ञानेन)' (पृ. ३४१) अधिक स्पष्ट कहा है जबकि वार्तिक में इतना ही सूचित किया गया है—मोक्षार्थी न प्रवर्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः। नित्यनैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायजिहासया' (सम्बन्ध. ११०)॥ तन्त्रवार्तिक में (१.३.८, पृ. २८८ प्रभृति) आत्मज्ञान को संयोगपृथक्त्वन्याय से[1] क्रत्वर्थ और पुरुषार्थ, दोनों माना है। वहाँ भी ज्ञान उपासनापरक ही है। इस प्रकार कर्म से मोक्षवाद मीमांसकाभिमत है।

पूर्वोक्त कर्मजडों का मत असंगत है यह सिद्ध करना प्रारम्भ करने के लिये उसका

१. मीमांसादर्शन में (४.३.३.६) शंका उठी कि 'यूपं छिनत्ति' के प्रकरण में 'खादिरो यूपो भवति' तथा 'खादिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्वीत' ये वाक्य आते हैं जिनसे संशय होता है कि यूप की खादिरता (कत्थे की लकड़ी से बना होना) क्या वीर्यफलकमात्र—पुरुषार्थमात्र—है या यज्ञपूर्ति के लिए भी आवश्यक है—क्रत्वर्थ है। निर्णय किया है कि वह पुरुषार्थ और क्रत्वर्थ दोनों ही है और इसमें कारण है 'संयोगपृथक्त्व'। संयोग का अर्थ है वाक्य और पृथक्त्व का अर्थ है उसकी द्विरूपता। 'खादिरो यूप' इत्यादि क्रत्वर्थता बोधक और 'खादिरं' इत्यादि पुरुषार्थ द्योतक है। क्योंकि दोनों वाक्य निराकांक्ष हैं अतः शेषशेषिभाव भी सम्भव नहीं। इसी प्रकार 'सर्वांश्च लोकानाप्नोति' (छा. ८.७.१) और 'न स पुनरावर्तते' (छां. ८.१५.१) आदि स्वतंत्र वाक्य आत्मज्ञान (उपासना) को लोकप्राप्ति और मोक्षप्राप्ति दोनों का साधन बताते हैं; यह मीमांसक-अभिप्राय है।

इति हृष्टधियां वाचः स्वप्रज्ञाऽऽध्मातचेतसाम्।
घुष्यन्ते यज्ञशालासु धूमानद्धधियां किल॥२२॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

पूर्वोक्ताः वाचो यज्ञशालासु घुष्यन्ते किलेति **सम्बन्धः। वक्तृद्वारा वाचां दूषणं सम्भावयति**–इति हृष्टधियामिति। **वित्तपुत्रकलत्रादिपरित्यागपुरस्सरं ज्ञाननिष्ठा-लक्षणबहुलायासमन्तरेण कर्मभ्य एव स्वर्गापवर्गावस्माकं सुखेनैव सिध्यत इति हृष्टा धीर्येषां तेषां; एतावता तद्वचसां कथमप्रामाणिकत्वमित्यत आह**–स्वप्रज्ञेति। **स्वकीया प्रज्ञा युक्त्युपदेशबहिष्कृता कर्मनिमित्तत्वात् संसारस्य तत्परिहारेण परिहारः स्यादिति केवलोत्प्रेक्षालक्षणा तया** आध्मात**मुपबृंहितं चेतो येषान्ते तथोक्ताः। तत्प्रज्ञायाः यथार्थायाः**[1]**। अभावे श्रुतिस्मृतिलिङ्गानि सन्तीति सूचयति**–धूमानद्धेति। **धूमेनानद्धा आबद्धा सम्यग्ग्रहणे प्रतिबद्धा धीर्येषान्ते धूमानद्धधियः। एवं हि श्रौतानि स्मार्तानि लिङ्गानि च दृश्यन्ते 'अग्निमुग्धो हैव धूमतान्ताः स्वं लोकं न प्रतिप्रजानाति'। 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः'। 'न तं विदाथ'। 'अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः'।**

'यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥'

इत्येवमादीनि। तस्मात्तदीयं ज्ञानमयथार्थमेवातस्तद्वाचस्सम्भावितदोषा एवेति भावः॥२२॥

उपसंहार करते हैं—**इस प्रकार, कुछ भी त्याग किये बिना ही मोक्ष हो जायेगा ऐसा मानकर हर्षित, अपनी ही निःसार युक्तियों से अपनी बुद्धि को खुशी से फुला लेने वाले, यज्ञ करते हुए उठने वाले धुएँ से ढकी मति वाले मीमांसकों की बातें यज्ञशालाओं में गूँजा करती हैं॥२२॥** कर्मत्याग के बिना मोक्ष की आशा पुंयोग के बिना पुत्रेच्छा की तरह है। श्रुति 'न कर्मणा' (कै. २) 'अदृढा यज्ञरूपाः' (मुं. १.२.७) 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' (बृ. ४.४.२२) 'त्रयो धर्मस्कन्धाः...एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' (छा. २.१३.१) 'न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवाऽसाधुना कनीयान्' (कौ. ३.९) इत्यादि सभी वेदों में स्थित प्रसंगों में कर्म से मोक्ष की आशा भी नहीं यही कहती है।

---

१. यथार्थताया इति सुवचम्।

दूषणोपक्रमावधिज्ञापनायाह–

अत्राभिदध्महे दोषान् क्रमशो न्यायबृंहितैः।
वचोभिः पूर्वपक्षोक्तिघातिभिर्नातिसंभ्रमात्॥२३॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

सम्प्रति सम्भावितदोषान् प्रकटीकर्तुमुत्तरग्रन्थसन्दर्भ इति तात्पर्यमाह–दूषणेति। **व्युत्क्रमदोषं परिहरति**–क्रमश इति। **स्वपक्षस्थापनोपयोगिन्यायसम्पन्नतां दर्शयति**–(न्यायबृंहितैरिति)। **न केवलमेतावदेव, परपक्षप्रतिक्षेप-सामर्थ्यमप्यस्तीत्याह**–पूर्वपक्षेति। **इदानीं छलजातिनिग्रहस्थानादिभिः**[1] **न परोक्तयो निरस्यन्त इत्याह**–नातिसम्भ्रमादिति। **तेनैकत्वनिर्णयावसानानि पदकरूपाणि (वादकथारूपाणि) अस्मद्वचांसीति भावः॥२३॥**

अब उपस्थित मत की समालोचना प्रारम्भ करते हैं—**'केवल कर्म ही मुक्ति का साधन है' इस पक्ष की असंगतियाँ उसी क्रम से बतायेंगे जिस क्रम से उसके उपपादन की युक्तियाँ बतायी थी, जिससे उन तर्काभासों का खोखलापन और वास्तविक युक्ति-संगत सिद्धान्त, दोनों स्पष्ट होंगे॥२३॥** 'केवल कर्म' इस दृष्टि से कि उस मत में मोक्ष का हेतु कर्म ही सम्भव है, विद्या सहायमात्र है। जैसे काष्णाजिनिमत से विचार करने पर कर्म ही उत्तमादि योनियों का प्रापक है, आचरण सहायकमात्र है, उसी प्रकार समझना चाहिये। 'विद्यया...वीर्यवत्तरम्' (छां. १.१.१०) आदि श्रुतियों का काशावलम्बन कर वैसा तात्पर्य माना जाता है।

---

१. **छलम्**—वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम्। (न्या.द. १.१.१०)
यथा बालोऽयं नवकम्बलविशिष्टः इति नवीनकम्बलमुद्दिश्य कथिते सति उत्तरं भवति, एक एवास्य कम्बलोऽस्ति, न तु नवसंख्यकः इति छलम्। **जातिः**—असदुत्तरमिति भावः। न त्वत्र गोत्वादयो ग्राह्याः। 'साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः' (न्या.द. १.२.१८) प्रयुक्ते हि हेतौ यः प्रसङ्गो जायते सा जातिः। स च प्रसङ्गः साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानमुपालम्भः प्रतिबोधः इति। उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः इत्यस्योदाहरणवैधर्म्येण प्रत्यवस्थानम्। तथा उदाहरणवैधर्म्यात्साध्यसाधनं हेतुः इत्यस्योदाहरणसाधर्म्येण प्रत्यवस्थानम्। प्रत्यनीकभावाज्जायमानोऽर्थो जातिरिति।
(न्या.द.वा.भा. १.२.१८)
निग्रहस्थानम्—शास्त्रार्थे पराजयस्य हेतुभूतवाक्यम्, विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्। (न्या.द. १.२.१९) तत्र खलुप्रतिज्ञाहानिः, प्रतिज्ञान्तरः, प्रतिज्ञाविरोधः, प्रतिज्ञासंन्यासः,

चतुर्विधस्यापि कर्मकार्यस्य मुक्तावसंभवान्न मुक्तेः कर्मकार्यत्वम्।
अज्ञानहानिमात्रत्वाद्[१] मुक्तेः कर्म न साधनम्।
कर्मापमार्ष्टि नाज्ञानं तमसीवोत्थितं तमः ॥२४॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

नित्यसिद्धात्मस्वरूपावस्थानप्रतिबन्धकसकार्याज्ञाननिवृत्तिव्यतिरेकेण [२]उत्पत्त्याप्तिविकृतिसंस्कृतिलक्षणचतुर्विधकर्मकार्यरूपताभावान्मुक्तेर्न कर्म-साध्यत्वमित्याह–चतुर्विधस्यापीति। **स्वरूपावस्थानस्य नित्यसिद्धतया कर्मसाध्यत्वेऽपि अज्ञाननिवृत्तेरागन्तुक्याः कर्मसाध्यता किं न स्यादित्यत आह**–कर्मेति। **तत्र दृष्टान्तमाह**–तमसीवेति। तमसि सत्येव उत्थितं **रज्जोरगभ्रमादि यथा** तमो **न निवर्तयति तद्धेतुकत्वात्, एवमज्ञानहेतुकं कर्म नाज्ञानं निवर्तयति। तेन स्वभावतो विषयतश्च विरोधाभावादित्यर्थः।।२४।।**

उत्पन्न होना, प्राप्त होना, सुधरना व बिगड़ना—ये चार ही कर्मफल सम्भव हैं व मोक्ष इनमें से किसी भी स्वरूप वाला न हो सकने के कारण कर्म का फल मोक्ष हो यह अयुक्त है। आत्मरूप मोक्ष उत्पत्तिरूप नहीं हो सकता क्योंकि आत्मा नित्य है। आत्मा स्वरूप होने से प्राप्य भी नहीं और कूटस्थ होने से सुधारे या बिगाड़े जाने वाला भी वह नहीं हो सकता। यदि मोक्ष आत्मा से पृथक् कुछ हो तो मिथ्या व अनित्य होने से मोक्ष ही नहीं रह जायेगा।

अज्ञान का हटनामात्र मुक्ति का साधन है, न कि कर्म। कर्म अज्ञान को उसी प्रकार निवृत्त नहीं कर सकता जिस प्रकार अंधकार के कारण प्रतीत होने

हेत्वन्तरः, अर्थान्तरः, निरर्थकः, अविज्ञातार्थः, अपार्थकः, अप्राप्तकालः, न्यूनः, अधिकः, पुनरुक्तः, अननुभाषणः, अज्ञानम्, अप्रतिभा, विक्षेपः, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षणम्, निरनुयोज्यानुयोगः, अपसिद्धान्तः, हेत्वाभासः, इति द्वाविंशतिप्रकाराणि निग्रहस्थानानि वर्तन्ते।

१. 'अज्ञानहानमात्रत्वात्' इति पाठान्तरम्।

२. उत्पत्तिः—यथा घटं करोति। अत्र क्रियायाःफलं घटोत्पत्तिः।
आप्तिः (प्राप्तिः)—ग्रामं गच्छति, गमनक्रियायाः फलम्—ग्रामप्राप्तिः।
विकृतिः—तण्डुलं पचति, अत्र पाकक्रियायाः फलं तण्डुलविक्रियात्मकः विकारः।
संस्कृतिः—व्रीहीन् प्रोक्षति, अत्र प्रोक्षणक्रियायाः फलं व्रीहिगतसंस्कारः।

कर्मकार्यत्वाभ्युपगमेऽपि दोष एव।
एकेन वा भवेन्मुक्तिर्यदि वा सर्वकर्मभिः।
प्रत्येकं चेद् वृथान्यानि सर्वेभ्योऽप्येककर्मता ॥२५॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

सर्वेभ्योऽपीति **अग्निहोत्र-दर्शपूर्णमास-चातुर्मास्य-पशु-सोमादीनां मिलितानां मोक्षसाधनत्वे सति एकमुमुक्षुनियोगविषयतयैककर्मत्वं प्राप्तम्, तच्चायुक्तम्। सर्वाश्रमकर्मणाम् एकेनाऽऽश्रमिणाऽनुष्ठातुमशक्यत्वात्। प्रत्येकाश्रमविहितसर्वकर्मभ्यो मोक्ष इति पक्षेऽपि, सामग्रीवैचित्र्यात् फलेऽपि वैचित्र्यं प्राप्नोति। न च तद्युक्तम्, मुक्तेरेकरूपत्वात्। न चोक्तविकल्पदोषदुष्टत्वाद् अन्तःकरणशुद्धिद्वारा कर्मणां ज्ञानसाधनत्वमपि न स्यात् (इति) अपि शङ्कनीयं, चिरचिरतरचिरतमत्वाल्पत्वमहत्त्वादिभिश्शुद्धेः कालतः स्वरूपतश्च वैचित्र्याभ्युपगमादिति भावः।।२५।।**

वाला रज्जुसर्पादि अन्धकार को हटा नहीं सकता।।२४।। दृष्टान्त इतने अंश में है कि भ्रमसिद्धवस्तु भ्रमकारण का उच्छेद नहीं कर सकती। सूखी रेत में भ्रम से दीखने वाला जल रेत को गीला नहीं बना सकता, जैसा कि सर्वज्ञमुनि का वचन है—'नहि भूमिरूषरवती मृगतृड् जलवाहिनीं सरितमुद्वहति। मृगवारिपूरपरिवारवती न नदी तथोषरभुवं स्पृशति' (३.२)।

कर्मफल उत्पत्ति आदि जिस रूप का भी हो सकता है, मोक्ष वैसा नहीं, अतः कर्मकार्य नहीं, यह कहा। अब यह बताते हैं कि कर्म से मोक्ष मानने में दोष भी है—**क्या किसी एक कर्म को करने से मुक्ति होगी, या सब को? यदि एक से ही हो जाये तो बाकी कर्म व्यर्थ मानने होंगे। यदि सब को करने से मोक्ष हो तब तो सब मिलकर एक कर्म है यह सिद्ध होगा जो उनके भिन्न-भिन्न बताये फलों से विरुद्ध पड़ेगा**।।२५।। एक ही कर्म को मोक्ष-साधन मानने पर यह निर्धारण भी असंभव है कि वह कर्म कौन-सा है क्योंकि, जैसा कि आचार्यपाद ने कहा है, 'न ह्येतच्छास्त्रेण केनचित्प्रतिपादितं—मोक्षार्थीत्थं समाचरेद्—इति। न चैतत्तर्कयितुमपि शक्यते' (ब्र.सू. ४.३१)। सब कर्म मिलकर यदि मोक्षफलक मानें तो प्रथमतः यह दोष है कि मोक्ष असंभव होगा, कारण कि अनेक वर्षों में सम्पन्न होने वाले, धनादि सापेक्ष कतिपय कर्म करने में ही जीवन व्यतीत हो जायेगा, सब कर्मों को कर पाना सम्भव नहीं।

सर्वप्रकारस्यापि कर्मण उत्पत्तित एव विशिष्टसाध्याभिसंबन्धान्न पारिशेष्यन्यायसिद्धिः–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

नित्यनैमित्तिकानां फलान्तराश्र(य)वणात् मोक्षस्य च फलत्वेन साधनाकाङ्क्षत्वाद् अन्योन्याकाङ्क्षया सम्बन्धः पारिशेष्यन्यायेन सिद्ध्यति। एवमन्येषामप्यज्ञातफलानां कर्मणां मोक्ष-साधनत्वं सेत्स्यति इत्याशङ्क्याह– सर्वेति। **इष्टसाधनरूपत्वाद्विधेयस्य साध्यस्य चेष्टत्वाद् मोक्षस्य चासाध्यत्वाद्**

किं च सदा सब कर्म किये भी नहीं जा सकते, प्रत्येक वर्णाश्रम के धर्म अन्य वर्णाश्रम में अननुष्ठेय होते हैं। विकल्प मानने पर शास्त्रीय आठ दोषों[१] से अतिरिक्त मोक्ष पर यह आपत्ति आयेगी कि उसमें ऐकरूप्य नहीं रह पायेगा, कारण-वैलक्षण्य से कार्य-वैलक्षण्य स्वभाविक है।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि—अवश्यकरणीय नित्यनैमित्तिक कर्मों का कोई फल नहीं बताया गया है और फलरूप मोक्षका कोई साधन नहीं बताया गया है जिससे उन कर्मों को फल की और मोक्ष को साधन की आवश्यकता है, अतः नित्यनैमित्तिक कर्मों का फल मोक्ष मान लेना चाहिये। कारण कि, विधि इच्छित के साधन को बताती है और साधन से प्राप्य इच्छित वस्तु साध्य, लभ्य, होती है जब कि मोक्ष सिद्ध, नित्यलब्धस्वरूप है। नित्यादि कर्मों की विधि ही यह सूचित करती है कि उनमें साध्य कोई फल अवश्य है, क्योंकि प्रमाणभूत शास्त्र निष्फल कर्म का विधायक हो नहीं सकता। भावना की 'किम्' यह आकांक्षा पूरी होनी ही पड़ेगी। मीमांसा के विश्वजिदधिकरण से (४.३.१५) पता चलता है कि जिन कर्मों का अन्य फल न बताया हो उनका फल स्वर्ग होता है। इसलिये नित्यादि कर्मों का फल मोक्ष मानना असंभव है। यह शंका नहीं करनी चाहिये कि मोक्ष के भी साधन उपदिष्ट हैं ही, अतः मोक्ष भी साध्य ही है। कारण कि, अविद्यानिवृत्ति ही साध्य है, मोक्ष आत्मरूप होने से साध्य नहीं। 'अविद्यास्तमयो मोक्षः' (ब्र.सि.पृ. ११९) आदि वचनों का भी अर्थ है कि

---

१. प्रथम पक्ष में स्वीकृत अप्रामाण्यका त्याग, अस्वीकृत प्रामाण्य का ग्रहण, स्वीकृत प्रामाण्य का त्याग और अस्वीकृत अप्रामाण्य का ग्रहण। द्वितीय पक्ष में भी ये ही चार पुनः आते हैं, इस प्रकार विकल्प मानने पर आठ दोष होते हैं यह जैमिनीय मीमांसा के द्वितीयाध्याय द्वितीयपाद में विचारित है।

दुरितक्षपणार्थत्वान्न नित्यं स्याद्विमुक्तये।
स्वर्गादिफलसंबन्धात्काम्यं कर्म तथैव नः ॥२६॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

'अग्निहोत्रं जुहोती' त्याद्युत्पत्तिविधिवाक्यादेव विशिष्टेष्टसाधनत्वप्रतीतेरश्रूयमाणफलकेष्वपि विश्वजिदादिषु[१] स्वर्गकामाधिकरणन्यायेन[२] स स्वर्गस्स्यादिति स्वर्गस्यैव फलत्वेन श्रवणान्न पारिशेष्यसिद्धिरित्यर्थः। 'येन केनचन यजेतापि दर्विहोमेनानुपहतमना एव भवती' त्यादि वाक्येभ्यो नित्यानां कर्मणां दुरितक्षपणार्थत्वं[३] द्रष्टव्यम्।।२६।।

अविद्यानिवृत्त्युपलक्षित आत्मा मोक्ष है। अतः जैसे 'कृष्णकाकवद् देवदत्तगृहम्' कहने से देवदत्तगृह काला नहीं माना जाता है वैसे ही साध्य अज्ञाननिवृत्ति से उपलक्षित आत्मरूप मोक्ष को साध्य मानना असंगत है। ज्ञानघनाचार्य इसी दृष्टि से ज्ञान से अज्ञाननिवृत्ति बताकर स्वरूपस्थिति को मोक्षरूप वेदान्तानुसार सिद्ध करते हैं— 'तत्त्वमस्यादिवाक्यजनिताऽपरोक्षब्रह्मविद्यया अनाद्यविद्यापटलसमुत्पाटनेन नित्यसिद्धनिरतिशयानन्दप्रत्यगद्वितीयपरमात्मचैतन्यात्मनाऽवस्थानमपवर्ग इति भगवतो भाष्यकारस्य मतमाश्रयणीयं निःश्रेयसार्थिभिः' (तत्त्वपरिशुद्धि प्र.-४६ पृ.-७४५)।

अवश्य करणीय नित्यादि कर्म पापको हटाने में गतार्थ होने से व इच्छापूर्वक किये कर्म स्वर्गादि फलवाले होने से मुक्ति के साधन नहीं हो सकते।।२६।। यद्यपि शास्त्र नित्यादि कर्मों का फल पितृलोक-प्राप्ति बताता है तथापि यहाँ पापनिवृत्ति को मीमांसकमतानुसार फल कह दिया है जिससे स्पष्ट हो कि वह जब यह स्वीकार कर चुका कि वे पापनिवृत्तिफलक हैं तब उन्हें मोक्षफलक मानना उसकी कितनी बड़ी भूल है।

---

१. यथा विश्वजिदधिकरणे हि 'विश्वजिता यजेत' इत्यत्र फलस्याश्रवणात्फलमन्तरेण च विधिश्रुतेरनुपपत्तेरवश्यं फले कल्पयितव्ये सर्वाभिलषितत्वेन स्वर्गः फलमित्युक्तम्। एवं च यत्रार्थवादवाक्ये विधिवाक्ये फलं न श्रूयते तत्र स्वर्गः फलं कल्प्यत इति प्रकृतन्यायविषयः। एवमन्यत्रापूह्यमिति।

२. स्वर्गकामाधिकरणम् पूर्वमीमांसादर्शनस्य षष्ठाध्याये। यजेत स्वर्गकाम इति स्वर्गस्यैव फलत्वं निर्णितम्, न तु यागस्य इति भावः।

३. नित्यानि अकरणे प्रत्यवायसाधनानीति वेदान्तसारकारः। (वे.सा. ७)
विषयेऽस्मिन् वार्तिककारः—

प्रमाणासंभवाच्च–

साध्यसाधनभावोऽयं वचनात्पारलौकिकः ।
नाश्रौषं मोक्षदं कर्म श्रुतेर्वक्त्रात् कथञ्चन ॥२७॥
अभ्युपगताभ्युपगमाच्च श्वश्रूनिर्गच्छोक्तिवद्[1] भवतो निष्प्रयोजनः

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

मोक्षोद्देशेन कर्मणां विधानाभावादपि न तत्साधनत्वमित्याह– प्रमाणेति।।२७।।

यदुक्तम् 'अकुर्वतः क्रियाः काम्याः' इति, तदस्माभिरभ्युपगतमेव त्वयाप्युक्तं नाधिकमित्याह–अभ्युपगतेति। **ननु कर्मणां मोक्षसाधनत्वं**

साथ ही कर्म मोक्ष के साधन हैं, यह प्रमाणसिद्ध भी नहीं—**पारलौकिक साध्य से साधन का ज्ञान शास्त्र से ही होता है और श्रुति-स्मृति में ऐसा कहीं भी नहीं सुना जाता कि कर्म का फल मोक्ष है**॥२७॥ मोक्ष की पारलौकिकता भी मीमांसक के अनुसार ही जाननी चाहिये। यद्वा मोक्षस्वरूप और उसकी साधनता लोकसिद्ध न होने से पारलौकिक कहा है। लोक में साँकल आदि का बन्धन व उनसे मोक्ष ही प्रसिद्ध है, अज्ञान ही बन्ध और तन्निवृत्तिरूप आत्मा मोक्ष है—यह शास्त्रैकगम्य ही है, यह भाव है। 'इह चेदशकद्बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्रसः' (कठ. २.६.४) 'इह चेदवेदीत्' (केन २.१३) 'अत्र ब्रह्म समश्नुते' (बृ. ४.४.७) इत्यादि श्रुतियों से स्वर्गादि की तरह पारलौकिक मोक्ष माना नहीं जाता।

नित्यानां चाक्रियाऽभावः प्रत्यवायस्ततः कुतः ।
न ह्यभावाद्भवेद्भावो मानं यस्मान्न विद्यते ॥
पूर्वोपचितकर्मभ्यस्तस्मात्कर्तारमेति या ।
प्रत्यवायक्रिया तस्या लक्षणार्थः शता भवेत् ॥
नित्यानामक्रिया यस्माल्लक्षयित्वैव सत्वरा ।
प्रत्यवायक्रियां तस्माल्लक्षणार्थे शता भवेत् ॥ (तै.भा.वा. १-१९,२०,२१)

अत्र आनन्दगिरिः—
यदि यथावन्नित्यनैमित्तिकानुष्ठानं स्यात्तदा सञ्चितदुरितक्षयोऽपि भवेन्न चायं विहितमकार्षीत्ततः प्रत्यवायी भविष्यतीति शिष्टैर्लक्ष्यते तेन शतृप्रत्ययस्यान्यथाऽपि सिद्धत्वान्न तद्बलादकरणस्य प्रत्यवायहेतुत्वसिद्धिरित्यर्थः। (तै.भा.वा. आ.-१-२१)

१. यत्र परकृतनिषेधं निराकृत्य स्वयं निषेधति, तत्रायं न्यायः प्रवर्तते।

प्रलापः–

निषिद्धकाम्ययोस्त्यागस्त्वयापीष्टो यथा मया ।
नित्यस्याफलवत्त्वाच्च न मोक्षः कर्मसाधनः ॥२८॥
एवं तावत् 'मुक्तेः क्रियाभिः सिद्धत्वात्' (१-९) इति निरस्तोऽयं

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

त्वयाऽनभ्युपगतमपि मयोक्तमिति? तत्राह–नित्यस्येति।।२८।।

वृत्तानुद्रवणपूर्वकं वर्त्तिष्यमाणस्य ग्रन्थसन्दर्भस्य तात्पर्यमाह–एवं तावदिति। **इदानीं सर्वकर्मसु प्रवृत्तौ यो हेतुर्मिथ्याज्ञानादिलक्षणस्तस्य प्रवर्त्तकस्य निरूपणेन कर्मणामविद्याकार्यतया विद्यासाध्याऽविद्यानिवृत्ति-**

वस्तुतः तो मीमांसक ने वेदान्ती के उपयोगी बात ही सिद्ध कर यह किस्सा चरितार्थ किया—किसी घर में भिक्षा देने का रिवाज नहीं था। वहाँ एक भिक्षुक आया तो बहू ने कुछ भी देने से मना कर उसे लौटा दिया। उसकी सास ने यह देखने पर बहू को डाँटा और भिक्षुक को वापस बुलाकर कहा 'घर की बड़ी होने से मुझे ही यह अधिकार है कि मैं तुम्हें भिक्षा के लिये मना करूँ : भिक्षा नहीं मिलेगी, जाओ।' यह किस्सा चरितार्थ किया यह कैसे? बताते हैं—**जिन कर्मों को करने का निषेध है उन्हें तथा जो फलेच्छा से किये जाते हैं उन्हें छोड़ा जाये यह वेदान्ती की तरह मीमांसक को भी स्वीकृत है तथा अवश्य करणीय नित्यादि कर्म निष्फल[1] हैं यह भी उसकी मान्यता है, अतः कोई भी कर्म मोक्ष का साधन नहीं यही उसने सिद्ध किया**॥२८॥ नित्यादि से भिन्न कर्मों का त्याग स्वयं मीमांसक को अभिमत है अतः वे मोक्षफलक उसके मत से भी नहीं, नित्यादि को वह पापनिवृत्ति से अतिरिक्त किसी फल वाला मानता नहीं अतः वे भी उसी के मत से मोक्षफलक नहीं। इस प्रकार जब सभी कर्म मोक्षफलक नहीं तो 'मुक्तेः क्रियाभिः सिद्धत्वात्' कहना अत्यन्त असंगत प्रलाप के अतिरिक्त कुछ नहीं। कर्मत्याग मोक्ष-फलक होने से प्रतियोगिविधया कर्म भी मोक्षसाधन हो गया—यह मानना वैसा ही होगा जैसे कोई माने कि जहर न खाना जीने के लिये आवश्यक होने से जहर भी जीवन के लिये आवश्यक है! किं च केवल

---

१. अत्र विद्यासुरभिः—'अत्रोक्तस्य नित्यस्याफलवत्वं च दुरितक्षयादिव्यतिरिक्तभावविषयमेव, अन्यथा 'नित्यानुष्ठानतश्चैनं प्रत्यवायो न संस्पृशेत्' (१.१३) इत्यनेन विरोधः स्यात्।'

पक्षः। अथाधुना सर्वकर्मप्रवृत्तिहेतुनिरूपणेन यथावस्थितात्मवस्तु-विषयकेवलज्ञानमात्रादेव सकलसंसारानर्थनिवृत्तिरितीमं पक्षं द्रढयितुकाम आह।

इह चेदं परीक्ष्यते–किं यथा प्रतिषिद्धेषु यादृच्छिकेषु च कर्मसु स्वाभाविकस्वाशयोत्थनिमित्तवशादेव 'इदं हितम्, इदम् अहितम्'–इति विशेषान् परिकल्प्य मृगतृष्णिकोदकपिपासुरिव लौकिकप्रमाण-

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

लक्षणमोक्षोपयोगात्[1] कर्मासमुच्चिताभ्यासनिरपेक्षात्मज्ञानादेव कैवल्यमिति प्रदर्श्यत इत्यर्थः। ननु कथं कर्मसु प्रवृत्तेर्मिथ्याज्ञानं हेतुः तेषां यथायोगं लौकिकवैदिकप्रमाणज्ञानमूलत्वात्? इत्याशङ्क्य, कर्मप्रवृत्तिहेतुनिरूपणार्थं विमृशति–इह चेति। प्रतिषिद्धेषु कलञ्जभक्षणादिषु स्वाभिमतः शास्त्रानाधेयो[2] यस्स्वाभिप्रायः 'अहमप्राप्तसुखोऽपरिहृतदुःखश्च तेन मम प्राप्तव्यम् परिहरणीयं

कर्मत्याग किसी भी फल का साधन नहीं हो सकता, कोई भावकारण ही भावफल का कारण हो सकता है। कर्मत्याग की कारणता कथंचित् अभ्युपगत हो तो केवल प्रतिबन्धकाभावविधया ही होगी। जैसे मण्यभाव दाह का कारण नहीं, वह्नि ही उसका कारण है, वैसे कर्मत्याग मोक्ष का कारण नहीं, ज्ञान ही मोक्ष का कारण है, कर्मत्याग मण्यभाव के स्थान पर है। अतएव मुण्डकभाष्य में आचार्य का उद्घोष है—'ज्ञानमात्रे यद्यपि सर्वाश्रमिणामधिकारः, तथापि संन्यासनिष्ठैव ब्रह्मविद्या मोक्षसाधनं, न कर्मसहिता' (उपोद्घात)। जैसे मणिकी सन्निधि में वह्नि दाहसाधन नहीं, वैसे ही समझना चाहिये। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि 'मोक्ष क्रियाफल है' (श्लो. ९) यह पक्ष दोषपूर्ण है।

अब यह बताते हुए कि सब कर्मों में प्रवृत्ति का कारण अयथावत् ज्ञान है, व्यापक आत्मा का वास्तविक स्वरूप जैसा है उसका वैसा ज्ञान होने से ही संसाररूप समस्त अनर्थ की निवृत्ति होती है, इस पक्ष को दृढ करने के लिये विचार करेंगे। कर्म अज्ञाननिवृत्तिरूप मोक्ष के लिये अनुपयोगी है क्योंकि वे अज्ञानजन्य और तद्विरुद्ध स्वभाव वाले हैं। अतः उनसे असंबद्ध ही ज्ञान मोक्षसाधन है। शंका[3] होती है कि कर्म

१. चन्द्रिकायान्तु—'विद्यासाध्याविद्यानिवृत्तिलक्षणे मोक्षेऽनुपयोगात् कर्मसमुच्चिताभ्यासादि-निरपेक्षात्मज्ञानादेव कैवल्यमिति' इति मुद्रितम्। तत्र कर्मसमुच्चितनिरपेक्षादभ्या-सादिनिरपेक्षाच्च इति योजनीयम्। २. शास्त्रज्ञानानाधेय इति भावः।

३. सिद्धान्ती का अभिप्राय आत्मयाथात्म्य के अज्ञान से है, यह न समझने से ही शंकोदय जानना चाहिये। अतः सिद्धान्त का क्रम अविद्या-काम-कर्म प्रसिद्ध है।

प्रसिद्धान्येव साधनान्युपादाय हितप्राप्तयेऽहितनिरासाय च स्वयमेव प्रवर्तते निवर्तते च, तथैवादृष्टार्थेषु काम्येषु नित्येषु च कर्मसु, किं वा अन्यदेव तत्र प्रवृत्तिनिवृत्तिनिमित्तमिति।

किञ्चातः; यद्येवम् शृणु। यदि तावद् यथावस्थितवस्तुसम्यग्ज्ञानं प्रमाणभूतं लौकिकम् आगमिकं[1] वा प्रवृत्तिनिमित्तमिति निश्चीयते,

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

चास्ती'ति मिथ्याज्ञानं तदुत्थनिमित्तं रागादि तद्वशात् प्रवृत्तेर्विषय-विशेषालम्बनत्वाद् 'इदं पुरोवर्ति हितमनुकूलमिदं चाहितम्प्रतिकूलमि'ति कल्पनामात्रेण निश्चित्य स्वयमेव शास्त्रनिरपेक्षं लौकिकप्रमाणसिद्धान्येव च साधनानि साधनत्वेनोपादाय यथा प्रवर्तते तथैवादृष्टार्थेष्वन्वय-व्यतिरेकासिद्धफलेषु[2]। तान्येवाह–काम्येष्विति। किं प्रवर्तत इति शेषः।

एवं सिद्धान्तहृदयमभिधाय पूर्वपक्षहृदयमाह–किं वाऽन्यदिति। शास्त्रादिजनितसम्यग्ज्ञानमित्यर्थः। 'सन्दिग्धं सप्रयोजनञ्च विचार्यमिति'[3] न्यायात् सन्देहप्रदर्शनानन्तरं प्रश्नपूर्वकं प्रयोजनं दर्शयति–किञ्चात इत्यादिना। विषयतो वस्तुतश्च ज्ञानस्य निर्दोषतामाह–यथावस्तुप्रमाणभूतमिति[4]। भवत्वेवं कर्मसु सम्यग्ज्ञानात् प्रवृत्तिस्तथापि सर्वकर्मसंन्यासेऽपि सम्यग् ज्ञानेनैव

तो लौकिक या शास्त्रीयज्ञान से होता है—ज्ञान इच्छा-क्रिया यह क्रम है—अज्ञान से ही होता है यह क्योंकर कहा जा सकता है? इस शंका की निवृत्ति के लिये यह विचार करते हैं कि कर्म में प्रवृत्ति क्यों होती है। मांसभक्षणादि निषिद्ध कर्म तथा हेतुविशेष से न होने वाले शयनादि सहज कर्म शास्त्र के अर्थ पर विचार किये बिना, 'मुझे सुख हो, दुःख न हो' आदि इच्छा से राग-द्वेष के कारण अनुकूलता व प्रतिकूलता मानकर सांसारिक अनुभवों से जिन्हें साधन समझा है उन्हें लेकर अनुकूल को पाने के लिये, प्रतिकूल को हटाने के लिये शास्त्राज्ञा की अपेक्षा के बिना ही प्रवृत्ति रूप से किये जाते हैं। जैसे

१. लौकिकमागमिकं वा—लौकिकं लोकव्यवहारोपयोगितया प्रसिद्धान्वयव्यतिरेकानुविधायि। आगमिकं शास्त्रजन्यं शाब्दबोधात्मकम्। (सारार्थः)

२. अदृष्टत्वादेव नान्वयव्यतिरेकाभ्यां साध्यसाधनतासिद्धिः। यदि तु 'सिद्धे'ति पाठः तर्हि काकतालीयादिन्यायेनादृष्टफलसाधनसिद्धिरभिप्रेता भवेत्।

३. यथा विचारविषयत्वं हि नाज्ञातस्य नापि निश्चितस्य, किन्तु सन्दिग्धस्येति भावः।

४. एषां पाठेऽवस्थितपदं नास्तीति।

निवृत्तिशास्त्रं च नाभ्युपगम्यते, तदा हताः कर्मत्यागिनः। भ्रान्तिविज्ञानमात्रावष्टम्भात्, अलौकिकप्रमाणोपात्तकर्मानुष्ठान-त्यागित्वाच्च। अथ मृगतृष्णिकोदकपिपासुप्रवृत्तिनिमित्तवदयथा-वस्तुभ्रान्तिविज्ञानमेव सर्वप्रवृत्तिनिमित्तम्, तदा वर्धामहे वयं, हताः स्थ यूयमिति।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

प्रवृत्तिर्भविष्यति, तस्यापि निवृत्तिशास्त्रमूलत्वादित्याशङ्क्य; मैवम्, तस्य यावज्जीवादिवचनविरोधादनधिकृतान्धपङ्ग्वादिविषयत्वोपपत्तेरित्यभिप्रेत्य परिहरति–निवृत्तीति। **आत्मनोऽशनायाद्यतीतत्वे कर्तृत्वाद्यभावे कर्मत्यागे च मूलप्रमाणाभावाभिप्रायेण** भ्रान्तिविज्ञानमात्रावष्टम्भादित्युक्तम्। अलौकिकं प्रमाणं **'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयादि'त्यादि वैदिकं वचनम्।**

मृगमरीचिका के जल को देखते ही प्यासा उसे पीने के लिये दौड़ता है, उसकी वास्तविकता आदि का विचार नहीं करता, वैसे ही दु:ख से छूटकर सुख चाहने वाले भी, प्रवृत्ति किया करते हैं। शास्त्रीय कर्मों में भी क्या इसी प्रकार प्रवृत्ति होती है, या उनमें प्रवृत्ति का कारण कुछ और है? इस प्रश्न के निर्णय पर ही कर्म से व ज्ञान से मोक्ष मानने वालों का भविष्य निर्भर करता है। यदि लौकिक या शास्त्रीय प्रमाणों से निर्णीत वस्तु की वास्तविकता के निश्चित ज्ञान को प्रवृत्ति का कारण मानें और कर्मत्याग के उपदेशक शास्त्रभाग को केवल उन्हें विषय करने वाला मानें जिनका कर्म करने में अधिकार नहीं, तब तो ज्ञान से मोक्ष स्वीकार करने वाले और कर्मत्यागी महात्मा मारे गये, क्योंकि उन्होंने जो आत्मा को अकर्ता-अभोक्ता समझा वह गलत हुआ एवं कर्तव्यों का उन्होंने निर्वाह नहीं किया। यदि, दूसरी ओर, प्यासे की भ्रमसिद्ध जल को पीने की प्रवृत्ति के हेतु भ्रम की तरह ही संसार की वास्तविकता का अयथार्थ ज्ञान ही सब कर्मों में प्रवर्तक हो, तब तो कर्म से मोक्ष मानने वाले मारे गये तथा कर्म छोड़ ज्ञान पाने की कोशिश करने वालों का भविष्य चमक उठा। अत: यह निर्णय हो जाना चाहिये कि कर्म के प्रति कारण क्या है?

सुषुप्ति में विषयों के बिना ही सुख का अनुभव आत्मा की सुखरूपता का साधक है। आत्मा ही सर्वाधिक प्रिय होने से यह अनुमान ही संभव है कि वह सुखरूप है, क्योंकि सुख ही प्रिय होता है। सुखद वस्तु भी सुख के लिये ही प्रिय होती है, स्वरूप से नहीं।

हितं संप्रेप्सतां मोहादहितं च जिहासताम्।
उपायान् प्राप्तिहानार्थान् शास्त्रं भासयतेऽर्कवत्॥२९॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

कस्तर्हि निर्णय इत्यत आह–हितमिति। **वैषयिकसुखाभावेऽपि सुषुप्ते सुखमहमस्वाप्समित्यात्मनस्सुखरूपतया स्वानुभवसिद्धत्वात्, परप्रेमास्पदत्वेन सुखरूपताऽनुमानाद्, 'एषोऽस्य[1] परम आनन्द' इत्याद्यागमतश्च[2] तस्य निरतिशयसुखाव्यतिरेकसिद्धेः 'अजमजरमभयं शोकान्तरमि'त्यादिभ्यश्च स्वभावत एव परिहृताशेषानर्थत्वाद्, एवंभूतात्मयाथात्म्यानवबोधादेव हितप्रेप्सा दुःखजिहासा च; न पुनश्शास्त्रमेव 'यूयं कर्त्तारो भोक्तारश्च, युष्माकं प्राप्तव्यम् परिहरणीयञ्चास्ति तस्माद्युष्माभिर्हितं प्रेप्सितव्यमहितं च जिहासितव्यम्, यूयं वर्णाश्रमवयोऽवस्थाविशेषवन्त' इति कर्तृत्वभोक्तृत्वादिकमुत्पादयति बोधयति वा। किन्तु स्वयमेवाध्यारोपितकर्तृत्ववर्णाश्रमावस्थाविशेषाणां पुरुषाणां स्वयमेव प्रेप्सितस्य जिहासितस्य चाहितस्य प्राप्तये परिहाराय च साधनं जिज्ञासमानानाम् 'इदं च साधनमि'ति[3] साध्यसाधनसंबन्धमात्रं यथावस्थित-मर्कवत् प्रवृत्तिनिवृत्तिहेतुतत्सत्यत्वादावुदासीनतया प्रकाशयतीत्यर्थः।।२९।।**

आत्मा की सुखरूपता, नित्यता, असंगता आदि बताने वाले शास्त्रवचन तो अनेक हैं। अपने इस स्वरूप को न जानना ही मोह है—**मोह के कारण ही अनुकूल को पाने की और प्रतिकूल को हटाने की इच्छा वालों को प्राप्ति और निवृत्ति के उपाय शास्त्र वैसे ही बता देता है जैसे लोक में सूर्य कहीं जाने-आने के इच्छुकों के लिये मार्ग प्रकाशित कर देता है।।२९।।** जो उक्त मोहवशात् मानता है 'मैं कुछ करने वाला और (किये का) फल भोगने वाला हूँ', उसे शास्त्र साधन का उपदेश करता है। शास्त्र यह कहीं नहीं कहता 'तुम कुछ भी करने वाले या भोगने वाले हो'। प्रवृत्ति-निवृत्ति को उत्पन्न करने में वह उदासीन है। एक ही शास्त्रवाक्य साधन भी बताये और आत्मा का वास्तव कर्तृत्वभोक्तृत्व भी बताये, यह असंगत है क्योंकि मीमांसकों ने निर्णय किया

---

१. 'एषो यस्य परम आनन्द' इति हस्तलिखित पुस्तके वर्तते। परन्तु तथा पाठ उपनिषत्सु न लब्ध: चन्द्रिकायामुपनिषदि च वर्त्तमानपाठो वर्तते।
२. आदिपदेन 'आत्मैवानन्दः' 'आनन्द आत्मा' (तै. २.५.१) इत्यादि ग्राह्यम्।
३. 'इदं साध्यम् इदं च साधनम्' इति चन्द्रिकायाम्।

एवं तावत् प्रत्यक्षानुमानागमप्रमाणावष्टम्भात्, आत्मनो

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

पूर्वश्लोकोक्तमर्थं सोपस्कारमनूद्य वर्तिष्यमाणस्य ग्रन्थस्य तात्पर्यमाह– एवन्तावदिति। शास्त्रञ्चेत्युत्तरार्द्धानुवादः। **पदार्थानां शक्तिमात्मनः**

है कि एक वाक्य से एकाधिक बोध नहीं मानना चाहिये। अतः वाक्य का वे लक्षण ही करते हैं 'यावन्ति पदानि एकं प्रयोजनमभिनिर्वर्तयन्ति तावन्ति एकं वाक्यम्' (शाबर. २.२. अधि. १२)। सूत्रकार ने स्वयं भी 'अर्थैकत्वादेकं वाक्यम्' (२.१.१४.४६) कहकर इसे सूचित कर दिया है। मीमांसकों से वेदान्त में यह महान् भेद है कि वे शास्त्रको कारक—करवाने वाला—मानते हैं जब कि हम उसे ज्ञापक—बताने वाला—मानते हैं। कारक मानने पर संभव भी है कि पुरुषकर्तृत्व मानकर प्रवृत्त हो, पर ज्ञापक पर यह भार नहीं। यह शंका नहीं करनी चाहिये कि अकर्ता को करने का उपदेश भी क्योंकर दिया जा सकता है, क्योंकि शास्त्र का भाव है कि किसी प्रकार हमें अद्वैतनिष्ठ बनावे और इसके लिये वह आवश्यक समझता है कि जबतक हममें अत्यन्त मोह है तब तक 'तुम अकर्ता हो' सुन लेने मात्र से कोई निश्चय संभव नहीं, उसके लिये चित्तशुद्धि अपेक्षित है जो तभी आ सकती है जब हम कर्म करें, जैसे दर्पण को तभी साफ किया जा सकता है जब उसे धोया आदि जाये। जिस प्रकार यदि कोई पुत्रादि किसी कार्यादि को करने में अत्यन्त आग्रह वाला हो जाये और पितादि स्पष्ट जानते हों कि वह काम कष्ट का या निष्फल है, तब वे समझाने पर भी उसके न मानने पर यही उचित समझते हैं कि वह पुत्रादि उस कार्य को करके स्वयं अनुभव कर ले, तब स्वयं समझ जायेगा और तब हम उसे सही रास्ता समझाने में सफल होंगे। इसी प्रकार श्रुति भी स्वाध्याय काल में ही आत्माद्वैतादि बता देती है, पर जब पाती है कि हमें कुछ करना ही है तब वह सब करने को कहती है जो काफी हद तक हमें इष्टप्रद मालूम हो और साथ ही हमारे चित्त को इस प्रकार साफ करे कि हम कर्म की व्यर्थता समझ जायें। तब श्रुति तुरन्त उपदेश दे देती है—'तत्त्वमसि' और मोक्षसिंहासन पर हमें अभिषिक्त कर देती है। भगवान् ने छान्दोग्य भाष्य में कहा है—'सन्मार्गस्थास्तावद्भवन्तु ततः शनैः परमार्थसदपि ग्राहयिष्यामीति मन्यते श्रुतिः' (अध्याय ८, पृ. ३४६)।

इस प्रकार विचार करने पर यह निर्णय हुआ कि (१) अनुभव, युक्ति और

निरतिशयसुखहिताव्यतिरेकसिद्धेः अहितस्य च षष्ठगोचरवत्[१] स्वत एवानभिसंबन्धात्, एवंस्वाभाव्यात्मानवबोधमात्रादेव 'हितं मे स्यादहितं मे मा भूत्' इति मिथ्याज्ञानं[२] तूषरशुक्तिकानवबोधोत्थमिथ्याज्ञानवत् प्रवृत्तिनिमित्तमिति निर्धारितम्। शास्त्रं च न पदार्थशक्त्याधानकृदिति। अथैतस्यैवोत्तरत्र प्रपञ्च आरभ्यते–

शास्त्रप्रमाण से[३] आत्मा की अनन्तता, सुखरूपता व प्रियरूपता सिद्ध होने के कारण उससे अप्रियरूपता उसी तरह असम्बद्ध है जैसे अभाव—जैसे आत्मा का कभी अभाव नहीं वैसे ही उसकी कभी अप्रियरूपता नहीं, तथा (२) आत्मा के इस स्वरूप के अज्ञान से ही 'मुझे अनुकूल मिले, प्रतिकूल नहीं' ऐसा अयथार्थज्ञान[४] होता है जो कर्म में प्रवृत्ति का वैसे ही कारण बनता है जैसे रेत या सींप को ठीक से न जानने से होने वाला या चाँदी का अयथार्थज्ञान उससे बचने या उसे पाने की प्रवृत्ति का कारण बनता है। शास्त्र आत्मा को कर्ता-भोक्ता, स्वर्ग को साध्य व कर्म को साधन बनाता नहीं है, वह तो केवल बता देता है कि यदि कोई अपने को कर्ता माने तो अमुक कर्म करे जिससे उसे भोग्यत्वेन अभीष्ट लाभ हो जायेगा। 'मैं कर्ता-भोक्ता हूँ' यह तो शास्त्रपरामर्श के बिना ही सब को ज्ञात है अतः इसे बताना शास्त्र-प्रयोजन किसी को भी संमत नहीं हो सकता। इन्हीं बातों का अब विस्तार करेंगे।

---

१. षष्ठगोचरवत् = षष्ठप्रमाणगोचरवत् = अभाववत्। वेदान्तदर्शनानुसारेण षष्ठप्रमाणन्तु अनुपलब्धिरेव। अभाव एव तस्य विषय इति भावः।

२. मिथ्याज्ञानं तु = मिथ्याज्ञानमेवेति सारार्थः। 'एवं च 'हेतुदर्शनाच्च' इति सूत्रमप्युक्तार्थे मानं लेभे। तदर्थस्तु यत्र लोभमूलकत्वं दृश्यते तत्र हेतुदर्शनान्न वेदमूलकत्वेन प्रामाण्यमि'ति सारार्थः।

३. यत्तु नवीनैः प्रत्यक्षाद्यवष्टरम्भान्निर्धारितमित्येवान्वयो न तु तदवष्टम्भात्सिद्धेरिति सम्बन्धो युक्तइत्यभाणि तन्मन्दम्। कण्ठतः पूर्वग्रन्थे प्रत्यक्षाद्युक्तेरभावेपि वांछाया मोहोत्थत्वमात्मनश्च सुखत्वं सूचितमेवेति नानुक्तपरामर्शः। व्यवहितान्वयस्तु तन्मतेऽधिको दोष इति।

४. क्योंकि आत्मा सर्वरूप है या सर्वथा असंग है इसलिये उक्त ज्ञान अयथार्थ है।

न परीप्सां जिहासां वा पुंसः शास्त्रं करोति हि।
निजे एव तु ते यस्मात् पश्वादावपि[1] दर्शनात् ॥३०॥

उक्तं तावदनवबुद्धवस्तुयाथात्म्य एव विधिप्रतिषेधशास्त्रेष्वधिक्रियत इति। अथाधुना विषयस्वभावानुरोधेन प्रवृत्त्यसंभवं वक्तुकाम आह–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

कर्तृत्वभोक्तृत्वादिशक्तिं स्वर्गादेश्च साध्यत्वशक्तिं यागादेः साधनत्वशक्तिञ्च नाधत्ते, किन्तु प्रकाशयत्येवेत्युक्तमित्यर्थः। निजे एवेति। शास्त्राधेयविज्ञानं विनैव पश्वादीनामिव तयोस्सद्भावादित्यर्थः।।३०।।

पूर्वं कर्मप्रवृत्तिहेतुनिरूपणेन कैवल्यस्य कर्मसाध्यत्वं निराकृतम्। अधुना अविद्याविषयात्मस्वरूपपर्यालोचनयापि कर्मसु प्रवृत्त्यसम्भवं दर्शयितुमाह– उक्तमित्यादि। **तदेतत्प्राप्तव्यस्य परिहार्यस्य च प्रत्येकं द्वैविध्यं दर्शयति–** लिप्सत

लोगों में कुछ पाने और कुछ छोड़ने की इच्छा शास्त्र के कारण उत्पन्न नहीं होती, शास्त्र जाने बिना ही यह स्वाभाविक है तथा शास्त्र में अनधिकृत पशु आदि में भी देखी जाती है॥३०॥ अनुकूल चाहना और प्रतिकूल से बचना अविचारसिद्ध ही है, विचार या प्रमाण की अपेक्षा से नहीं।

यह बताया कि आत्मा के वास्तविक रूप को न जानने पर ही 'अमुक कार्य करो, अमुक न करो'—ऐसा विधि-निषेधशास्त्र अनुसरणीय होता है। अब यह समझाने की इच्छा है कि सम्यग्ज्ञान के विषय आत्मा के स्वभाव के कारण भी कर्म में प्रवृत्ति संभव नहीं। इसे स्पष्ट करने के लिये यह विभाजन सूचित करते हैं कि जिसे पाना या छोड़ना चाहते हैं, उन दोनों के दो रूप होते हैं—**अपने पास विद्यमान वस्तु भी जब अज्ञात हो तब उसे पाने की इच्छा होती है, जैसे स्वर्ण का छल्ला गले की पिछली ओर**

---

१. पश्वादावपि—पश्वादिभिश्चाविशेषात्। यथाहि पश्वादयः शब्दादिभिः श्रोत्रादीनां सम्बन्धे सति शब्दादिविज्ञाने प्रतिकूले जाते ततो निवर्त्तन्ते, अनुकूले च प्रवर्त्तन्ते—यथा दण्डोद्यतकरं पुरुषममिमुखमुपलभ्य 'मां हन्तुमयमिच्छती'ति पलायितुमारभन्ते, हरिततृणपूर्णपाणिमुपलभ्य तं प्रत्यभिमुखीभवन्ति एवं पुरुषा अपि व्युत्पन्नचित्ताः क्रूरदृष्टीनाक्रोशतः खड्गोद्यतकरान् बलवत उपलभ्य ततो निवर्त्तन्ते, तद्विपरीतान् प्रति प्रवर्तन्ते। अतः समानः पश्वादिभिः पुरुषाणां प्रमाणप्रमेयव्यवहारः। पश्वादीनाञ्च प्रसिद्ध एवाविवेकपूर्वकः प्रत्यक्षादिव्यवहारः। तत्सामान्यदर्शनाद् व्युत्पत्तिमतामपि पुरुषाणां प्रत्यक्षादिव्यवहारस्तत्कालः समान इति निश्चीयते। (अध्यास भाष्य, ब्र.सू.)

लिप्सतेऽज्ञानतो लब्धं कण्ठे चामीकरं यथा।
वर्जितं च स्वतो भ्रान्त्या छायायामात्मनो यथा ॥३१॥
भयान्मोहावनद्धात्मा रक्षः परिजिहीर्षति।
यच्चापरिहृतं वस्तु तथाऽलब्धं च लिप्सते ॥३२॥

तत्रैतेषु चतुर्षु विषयेषु प्राप्तये परिहाराय च विभज्य न्यायः प्रदर्श्यते–

प्राप्तव्यपरिहार्येषु ज्ञात्वोपायाञ्छ्रुतेः पृथक्।
कृत्वाथ प्राप्नुयात् प्राप्यं तथानिष्टं जहात्यपि ॥३३॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

इति। स्वतः प्राप्तमेव कण्ठगतं सुवर्णभूषणमज्ञानतोऽप्राप्तं प्राप्तुमिच्छति। तथाऽविद्यमानत्वादेव स्वत **एव** वर्जितं **स्वकीयच्छायायां भ्रान्त्यारोपितं राक्षसं मोहावृतान्तःकरणो भयवशात् परिहर्त्तुमिच्छति। यच्चान्यद्वस्तुतोऽपरिहृतं चोरव्याघ्रादि, अलब्धञ्च वित्तादि परिहर्तुं प्राप्तुञ्चेच्छतीति द्वितीयमपि द्विविधं दृश्यत इत्यर्थः।।३१-३२।।**

भवत्वेवम्, तथापि तत्र तस्य कथं प्राप्तिः परिहारो वेत्याकाङ्क्षायामुत्तरश्लोकाभ्यामत्रोपायः प्रदर्श्यत इत्याह–तत्रैतेष्विति[1]। **तत्र वस्तुतोऽप्राप्ते स्वर्गादौ, अपरिहृते च निरयादौ आगमतस्तदुपायान् विभागेन परिज्ञाय, तदनन्तरमनुष्ठाय, अनुष्ठानजनितादृष्टवशात् कालान्तरे तत्फलं लभते।।३३।।**

चला जाये तो व्यक्ति उसे अपने स्थान पर न पाकर सोचता है कि वह खो गया और उसे खोजने लगता है। वस्तुतः अविद्यमान भी पदार्थ यदि अयथार्थ ज्ञान के कारण स्थित मान लिया जाये, तो उसे हटाने की भी इच्छा हो सकती है; जैसे जब कोई व्यक्ति पुरुष दीखने वाली वस्तु को ठीक से नहीं पहचानता तब उस अपनी परछाई को ही राक्षस मान बैठता है और डरकर उसे हटाना चाहता है। किं च जो सचमुच हमारे पास हो उसे भी हटाने की इच्छा होती है और जो अनुकूल वस्तु सचमुच हमारे पास नहीं, उसे भी पाने की इच्छा होती है॥३१-३२॥ अर्थात् वास्तविक और अवास्तविक लाभ-हानि के भेद से यहाँ भेद विवक्षित है।

---

१. तमेति हस्तलिखितपुस्तकपाठः।

अथावशिष्टयोः स्वभावत एव–

वर्जितावाप्तयोर्बोधाद्धानप्राप्ती न कर्मणा।
मोहमात्रान्तरायत्वात् क्रियया ते न सिध्यतः ॥३४॥

कस्मात् पुनरात्मवस्तुयाथात्म्यावबोधमात्रादेव अभिलषित-निरतिशयसुखावाप्तिनिःशेषदुःखनिवृत्ती भवतो, न तु कर्मणेति?

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

स्वतस्त्वपहतावाप्तयोरजानत एवातथारूपेणाभिमतयोर्बोधादज्ञाननिवृत्या प्राप्तिपरिहारौ, न तु कर्मणा। मोहमात्रस्यैव तत्र प्रतिबन्धकत्वात्[1] तत्र कर्मसाध्यत्वमित्यर्थः।।३४।।

स्यातां नाम स्वतः प्राप्तस्यात्मनस्स्वत एव परिहतस्य चाऽनात्मनो ज्ञानमात्रादेव प्राप्तिपरिहारौ; निरतिशयानन्दलक्षणस्य निरस्ताशेषानर्थलक्षणस्य कथं ज्ञानादेव सिद्धिस्तथाभूतस्य मोक्षस्य संसारदशायामनुपलम्भात् साध्यत्वप्रतीतेः? इत्याशङ्कायामुत्तरश्लोकेनोत्तरमुच्यत इत्याह–कस्मादिति। यद्वा, शुक्तिकानिकटोपसर्पणादिक्रियया रजतादिविभ्रमाणां तत्कारणाज्ञाननिवृत्या निवृत्तिदर्शनादात्माज्ञाननिवृत्तिरपि कर्मणा किं न स्यादित्याशङ्क्य परिहरति–कस्मादित्यादिना। अयं भावः–उक्तलक्षणस्य मोक्षस्यात्मस्वभावत्वेप्य-

---

इस प्रकार चार तरह के विषयों को हम पाना या हटाना चाहते हैं। इनमें—**जो तो स्वर्गादि वस्तुतः अप्राप्त हैं व दुःखरूप नरकादि वस्तुतः प्राप्त हैं वे, उन्हें पाने व निवृत्त करने के उपाय वेद से ज्ञान और तदनुसार कर्म कर, पाये और निवृत्त किये जाते हैं।**।३३।। बाकी जो दो तरह के विषय हैं उनका स्वभाव ही ऐसा है कि **उनकी निवृत्ति और प्राप्ति उन्हें ठीक तरह जानने से ही हो जाती है, उसके लिये कुछ करना नहीं पड़ता। क्योंकि उनके अज्ञान से ही उनकी प्राप्ति या अप्राप्ति का अनुभव होता है इसलिये ज्ञान से अतिरिक्त किसी कर्म से उन्हें न हटाया और न पाया जा सकता है।**।३४।। जैसे कर्ण को कुन्तीपुत्र 'बनने' के लिये यह जानने से अतिरिक्त कि 'मैं कुन्तीपुत्र हूँ', कुछ करना नहीं पड़ा, वैसे समझना चाहिये।

उक्त द्वितीय प्रकार की वस्तु जान लेने से मिल जाती है और आत्मा भी चाहे केवल उसे जान लेने से प्राप्त हो जाये, पर इससे दुःखनिवृत्ति तथा सुख-प्राप्ति कैसे होगी? किं च जैसे अयथार्थ ज्ञान को हटाने के लिये विषय के निकट जाना आदि कर्मरूप

---

१. प्रवृत्तिबन्धकत्वादिति हस्तलिखितपुस्तकपाठः।

उच्यते–

कर्माज्ञानसमुत्थत्वान्नालं मोहापनुत्तये।
सम्यग्ज्ञानं विरोध्यस्य तामिस्रस्यांशुमानिव ॥३५॥

नन्वात्मज्ञानमप्यविद्योपादानम्। न हि शास्त्रशिष्याचार्यादयनुपादायाऽऽत्मज्ञानमात्मानं लभत इति? नैष दोषः, यत आत्मज्ञानं हि स्वतःसिद्धपरमार्थात्मवस्तुस्वरूपमात्राश्रयादेवाविद्यातदुत्पन्नकारकग्रामप्रध्वंसि स्वात्मोत्पत्तावेव शास्त्राद्यपेक्षते, नोत्पन्नमविद्यानिवृत्तौ। कर्म

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

ज्ञानपिहितत्वात् संसारदशायामप्रतिभासः, न तु तस्य तदानीमभावात्, पूर्वोक्तप्रत्यक्षादिना प्रमाणेन तत्स्वभावत्वनिर्धारणात्। तस्य चाज्ञानस्य ज्ञानादेव निवृत्तिस्तथापि लोके दृष्टत्वात्। निकटोपसर्पणादेस्तु न साक्षादज्ञाननिवर्तकत्वं, सम्यक्ज्ञानोत्पत्तिमात्रकारणत्वेनान्यथासिद्धत्वात्। तत्रस्थस्यैव अधिष्ठानावलोकने कदाचित् भ्रमनिवृत्तेः, निकटोपसृप्तस्यापि अधिष्ठानानवलोकने भ्रमानिवृत्तेश्चेति।।३५।।

अज्ञानोत्थत्वाच्चेत् कर्मणामविद्यानिवृत्तावहेतुत्वं तर्हि विद्याया अपि तदुत्थत्वाऽविशेषात् तन्निवर्तकत्वं न स्यादिति शङ्कते–नन्विति। कुत एतदित्यत आह–न हीति। अविद्याकार्यत्वाविशेषेऽपि परमार्थवस्त्वालम्बनतया विषयतो विरोधादविद्यानिवर्त्तकत्वं न विरुध्यत इति परिहरति–नैष दोष इति। तत्राजडसत्यात्मविषयतया जडानृतानात्मविद्यारूपाऽविद्याविरोधितामाह–स्वतस्सिद्धपरमार्थेति। **आत्मनां परस्परभेदेन ब्रह्मणो भेदेन च विद्याविषयत्वे**

साधन हैं, वैसे आत्मा के अज्ञान को हटाने का क्या साधन है? इन दोनों शंकाओं का निराकरण करते हैं—**आत्मा की वास्तविकता न जानने से ही कर्म होता है, अतः कर्म उस न जानने को–अज्ञानको–हटाने में समर्थ नहीं। आत्मयाथात्म्य को प्रमाणतः जान लेना ही उस न जानने का विरोधी है, जैसे अन्धेरे का सूर्य ही–प्रकाश ही–विरोधी है। अतः ज्ञान ही अज्ञान का निवर्तक है।**।३५।। आत्मरूप मोक्ष नित्यप्राप्त है जिससे उसे न जानना ही बन्धन और जानना ही मोक्ष का साधन है। 'न जानना' या 'मैं नहीं जानता' यह भावरूप अज्ञान को विषय करता है, ज्ञानाभाव को नहीं, यह पूर्वोक्त तथ्य ध्यान में रखना चाहिये। आत्मज्ञान ही सकल दुःख-निवृत्ति और निरतिशय सुख-प्राप्ति का कारण है। अयथार्थ ज्ञान को हटाने के लिये जिस प्रकार

पुनः[1] स्वात्मोत्पत्तौ, उत्पन्नं च। न हि क्रिया कारकनिस्पृहा कल्पकोटिव्यवहितफलदानाय स्वात्मानं बिभर्ति साध्यमानमात्ररूपत्वात् तस्याः। न च क्रिया आत्मज्ञानवत् स्वात्मप्रतिलम्भकाल एव

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

द्वैतविरोधाभावमाशङ्क्याह–वस्तुस्वरूपेति। विभ्रमेऽप्यधिष्ठानस्य सामान्येन स्फुरणात्तदालम्बनत्वमस्तीति तद्व्यावृत्तये मात्रग्रहणम्।

किञ्च, विद्या स्वजन्मन्येवाऽविद्यामपेक्षते न तु फले, कर्म पुनस्स्वोत्पत्तौ फले चाविद्यामपेक्षत इति वैलक्षण्यान्तरमाह–स्वोत्पत्ताविति[2]। क्रिया चेत् फलसाधनं विद्यावत् स्वक्षण एव तत् किं न साध्नुयेद् इत्याशङ्क्य; स्वर्गादिफलस्य तदनुपलम्भात्, क्रियायाश्चादृष्टद्वारेण फलसाधनत्वात्, स्वातन्त्र्यासम्भवाच्च, मैवमित्यभिप्रेत्याह–न हीति। अनुभवविरुद्धज्ञानन्तर-फलत्वं क्रियाया इत्याह–न चेति।

आत्मज्ञानमपि कर्मापेक्षयाऽभ्यासद्वारेण वा कैवल्यं साधयतीति

आवश्यकरूप से यथार्थज्ञान अपेक्षित है, उस प्रकार पास जाना आदि क्रिया नहीं। कभी अतिनिकटता भ्रम का हेतु होती है, तब पास नहीं, दूर हटना आवश्यक हो जाता है। ईश्वरकृष्ण ने नाना दोषों के संग्रह का प्रयास किया है—'अतिदूरात्सामीप्यादिन्द्रिय-घातान्मनोऽनवस्थानात्। सौक्ष्म्याद्व्यवधानादभिभवात्समानाभिहाराच्च'॥ सां.का. ७॥ अतः इतना ही कह सकते हैं कि प्रमाण-सामग्री की समीचीनता का प्रयास आवश्यक है और वह तो श्रवण मनन से किया ही जाता है। एवमपि साक्षात् तो ज्ञान ही अज्ञान का निवर्तक है अतः उसे ही अज्ञान-निवृत्ति का कारण मानना उचित है। 'ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः' इत्यादि स्मृतियाँ (गी. ५-१६) भी इसमें प्रमाण हैं। और भी, आत्मा की व्यापकता और स्वरूपता उसके पास जाने या दूर हटने को सर्वथा असंभव बना देती हैं। अतः मोक्ष के लिये क्रिया की साधनता नहीं।

शास्त्र, शिष्य, आचार्य आदि अविद्याकार्यों से ही ज्ञान भी उत्पन्न होता है अतः कर्म के समान होने से ज्ञान भी अज्ञाननिवर्तक नहीं हो सकता—यह शंका स्वाभाविक

---

१. कर्म पुनरित्यादि—कर्म पुनः स्वोत्पत्तावपि कर्त्तादिसापेक्षम्। उत्पत्त्यनन्तरमाविद्यककारका-पूर्वादिसापेक्षमित्यर्थः। (सारार्थः)

२. स्वात्मोत्पत्ताविति मूलपाठो मुद्रितपुस्तके दृश्यते।

स्वर्गादिफलेन कर्तारं संबध्नाति। आत्मज्ञानं पुनः पुरुषार्थसिद्धौ नोत्पद्यमानस्वरूपव्यतिरेकेणान्यद् रूपान्तरं साधनान्तरं वा अपेक्षते। कुत

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

मतान्तरमाशङ्क्याह–आत्मज्ञानं पुनरिति। रूपान्तरशब्देनाभ्यास उच्यते। साधनान्तरशब्देन च कर्म। आत्मज्ञानस्याप्यनपेक्षत्वमयुक्तम्, अनादिकाल-प्रवृत्तद्वैतदर्शनसंस्काराभ्यां[1] बाधपरिहाराय तस्याप्यभ्यासादि सापेक्षत्वादि-

---

है, जिसका समाधान है कि यद्यपि वृत्तिरूप ज्ञान अविद्याकार्य है तथापि वास्तविक वस्तु को विषय करने वाला होने से वह अवास्तविक ज्ञान को (अज्ञान को) हटाये यही उचित है। चेतन, सत्य, सब भेदों से रहित आत्मा की वास्तविकता के विषय में होने के कारण जड, असत्य, सब भेदों वाले तथा विचार के बिना ही प्रतीत होने वाले अज्ञान और उसके कार्य को आत्मज्ञान समाप्त करने में समर्थ है।

दूसरी बात यह है कि कर्म की उत्पत्ति भी अज्ञान से होती है और उसका फल भी अज्ञान के रहते ही मिल सकता है, जब कि आत्मज्ञान को केवल उत्पन्न होने के लिये अविद्याकार्यों की आवश्यकता है, फल देने के लिये नहीं। परतन्त्र जड होने से कर्म कारकों का आश्रय लेकर ही कालान्तर में फल देता है, उनके बिना वह स्वयं अपने आपको धारण कर नहीं सकता। कर्म उत्पन्न होते ही कर्ता को स्वर्गादि फलसे सम्बद्ध तो करता नहीं, जैसे ज्ञान उत्पन्न होते ही अज्ञान को हटा देता है। कर्म का फल तो कालान्तर में ही मिलता है। फलकालपर्यन्त कर्म का संस्कार अज्ञान में रहता है तभी कर्म व फल का सम्बन्ध संगत होता है। अपूर्वादि जड में फलप्रदता मानने में कोई तर्क नहीं। 'फलमत उपपत्तेः' (ब्रह.सू. ३.२.३८) कहकर आचार्य बादरायण ने ईश्वर को ही फलदाता सिद्ध किया है जिसके लिये अज्ञान में संस्कार मानना ही उचित है। इसलिये अज्ञान से उत्पन्न होना समान होने पर भी अज्ञान की अपेक्षा के बिना फल देना और न देना—यह ज्ञान व कर्म का अन्तर है।

आत्मज्ञान जैसा उत्पन्न होता है वैसा ही वह दुःख का निवर्तक और सुख का प्रकाशक होता है। उसे न अपना स्वरूप बदलना पड़ता है और न कोई अन्य साधन अपनाना पड़ता है। अतः बार-बार दुहराने से ज्ञान में आया वैशिष्ट्य पुरुषार्थ देता है—

---

१. प्रयुक्तेति हस्तलिखितपुस्तक पाठः।

एतत्? यतः–

बलवद्धि प्रमाणोत्थं सम्यग्ज्ञानं न बाध्यते।
आकाङ्क्षते न चाप्यन्यद् बाधनं प्रति साधनम् ॥३६॥
स्वपक्षस्य हेत्ववष्टम्भेन समर्थितत्वाद् निराशङ्कमुपसंह्रियते–
तस्माद् दुःखोदयहेतोरज्ञानस्यापनुत्तये।
सम्यग्ज्ञानं सुपर्याप्तं क्रिया चेन्नोक्तहेतुतः ॥३७॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

त्याक्षिप्य, उक्तश्लोकेन समाधत्ते–कुत एतदित्यादिना। न बाध्यतेऽद्वैतदर्शनं **द्वैतदर्शनसंस्काराभ्यामिति शेषः। स्वयञ्च द्वैतदर्शनतत्संस्कारयोर्बाधनायाभ्यासादिकमपेक्षत इत्यत आह**–आकाङ्क्षत इति।।३६।।

एवं ज्ञानमेव कैवल्यसाधनं न कर्मेत्युपपादितमर्थमुपसंहरति–स्वपक्षस्येति। उक्तहेतुत **इति। अज्ञानसमुत्थत्वोत्पाद्यफलत्वादिहेतुभ्य इत्यर्थः।।३७।।**

यह भ्रम निवृत्त हो जाता है तथा मानस या कायिक कर्म की अनपेक्षता भी स्फुट हो जाती है। तत्त्वज्ञान की बलवत्ता इसलिये है क्योंकि—

विचारित यथार्थज्ञान के साधन से (वेद से) उत्पन्न होने के कारण आत्मा का ठीक ज्ञान अधिक बलवान् है अतः अविचारसिद्ध व यथार्थ ज्ञान के साधनों से न[1] उत्पन्न हुए भेददर्शन और उसके संस्कार से निराकृत नहीं हो सकता। उक्त हेतु से ही भेद व उसके संस्कार के निराकरण के लिये आत्मा का यथार्थ ज्ञान किसी साधन की जरूरत नहीं समझता।।३६।।

ज्ञान ही मोक्ष का साधन है, कर्म नहीं—यह बात शास्त्र और युक्ति से अविरुद्ध है यह बताकर प्रकृत का उपसंहार करते हैं—

आत्मज्ञान स्वरूप से तथा अपने विषय के कारण यथार्थ है। वह अनन्त दुःख के हेतुभूत अज्ञान को निवृत्त करने में समर्थ है। अज्ञान के अन्तर्गत ही फल देने वाला होने से तथा उसका विरोधी न होने से कर्म अज्ञान को निवृत्त करने में असमर्थ है।।३७।।

---

१. चक्षुरादिके निमित्तसे ठीक ही ज्ञान हो यह नियम नहीं, क्योंकि भ्रम भी अनुभवसिद्ध है। श्रुति तो प्रमा की ही उत्पादिका है।

ननु बलवदपि सम्यग्ज्ञानं सद् अप्रमाणोत्थेनासम्यग्ज्ञानेन बाध्यमानमुपलभामहे, यत उत्पन्नपरमार्थबोधस्यापि कर्तृत्वभोक्तृत्वराग-द्वेषाद्यनवबोधोत्थप्रत्यया आविर्भवन्ति। न ह्यबाधिते सम्यग्ज्ञाने तद्विरुद्धानां प्रत्ययानां संभवोऽस्ति।

नैतदेवम्। कुतः?

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

यदुक्तम् 'बलवद्धि प्रमाणोत्थम्' इति, तत्रानुभवविरोधमाशङ्कते–नन्विति। **तावता कथं बाधोऽवगम्यत इति, अत आह**–न हीति। **बाधितस्य बाधकत्वानुपपत्तेर्मैवमिति परिहरति**–नैतदेवमिति। **अस्तु तर्हि बाधकादुत्तर-कालमुत्पन्नद्वैतप्रत्ययैः विद्याया बाध इत्याशङ्क्य, तस्मिन्नपि काले**

आत्मा का यथार्थ ज्ञान बलवान् होता हुआ भी अविचारसिद्ध भेदादिज्ञान से बाधित होता हुआ देखा जाता है, क्योंकि आत्मा को यथार्थ रूप से जानने वालों में भी 'मैं करने व भोगने वाला हूँ', 'मेरी इच्छा को पूरी करने वाला यह साधन मुझे प्राप्त हो', 'मुझे बुरा लगने वाला यह पदार्थ मुझसे दूर हो' आदि अज्ञान से उत्पन्न होने वाले भाव देखने में आते हैं। यदि आत्मा का यथार्थ ज्ञान निवृत्त न हुआ हो तो उसके विरोधी भाव आ नहीं सकते। इस समस्या का समाधान है कि वस्तुतः आत्मवेत्ता में उक्त भाव प्रतीत होने पर भी उनसे उसका आत्मज्ञान निवृत्त नहीं होता, क्योंकि जो आत्मज्ञान से निवृत्त हो चुका ऐसा भेदज्ञान अपने निवर्तक को निवृत्त करे यह असंभव है। प्रकाश आने पर जो साँप निवृत्त हो गया वह प्रकाश को निवृत्त करे ऐसा नहीं होता। आत्मबोध हो चुकने पर शरीर मन में चाहे जो भाव आते-जाते रहें, आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं होता। अज्ञानकार्य होने से शरीर-मन अज्ञान के नियमों से चलते रहें इसमें आत्मा को कोई विरोध नहीं। अपने मुख को सही जानने वाले को काँच में लम्बा या मोटा मुख दीखे तो अपने मुख के सहीपने का ज्ञान और उससे होने वाला सुख कुछ कम नहीं होता, यद्यपि दीखने वाला मुख लम्बा या मोटा ही दीखता रहता है। क्योंकि आत्मा शरीर मन को मैं समझता रहा इसीलिये उनके विकारों से विकृत होता रहा। वस्तुतः तो वह कभी विकृत हुआ नहीं। जब वह निश्चय हट गया—कि शरीरादि मैं हूँ—तो शरीरादि के विकारों से वह विकृत होता नहीं। अतः वास्तविक ज्ञान अवास्तविक भेदज्ञान से निवृत्त नहीं हुआ करता। इसमें कारण बताते हुए कहते हैं—

बाधितत्वादविद्याया विद्यां सा नैव बाधते।
तद्वासना निमित्तत्वं यान्ति विद्यास्मृतेर्ध्रुवम् ॥३८॥

'कर्माज्ञानसमुत्थत्वात्' (१-३५) इत्युक्तो हेतुः। तस्य च समर्थनं पूर्वमेवाभिहितं 'हितं संप्रेप्सताम्' (१-२९) इत्यादिना। तदभ्युच्चयार्थम् अविद्यान्वयेन च संसारान्वयं प्रदर्शयिष्यामीत्यत आह–

ब्राह्मण्याद्यात्मके देहे लात्वा नाऽऽत्मेति भावनाम्।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

बाधकविद्यासंस्कारजनितप्रत्ययानां बलवत्त्वात्तेषामेवैतत्प्रत्ययबाधकत्वोपपत्तेर्मैवमिति परिहरति–तद्वासना इति। **यद्वा तद्वासनेत्यविद्यावासनाः कथ्यन्ते। अत्रापि (ता अपि) स्मृतिं विदुषो जनयन्ति। तेन विद्याया न द्वैतस्मृतिभिरपि बाध इत्यर्थः।।३८।।**

वृत्तसङ्कीर्तनपूर्वकं वर्तिष्यमाणस्य ग्रन्थस्य तात्पर्यमाह–तथेति[1]। **चकारः संसारस्याविद्यान्वयवत्तद्व्यतिरेके व्यतिरेकस्यापि समुच्चयार्थः।** ब्राह्मणाद्यात्मकेति[2]। **वर्णाश्रमवयोऽवस्थाविशेषवति** देहे ना **पुरुषः** आत्मेति

ज्ञान से निवृत्ति हो चुकने के कारण भेदज्ञान वास्तविक ज्ञान को निवृत्त नहीं करता। विचारसिद्ध होने से बलवान् वास्तविक ज्ञान ही प्रतीत होने वाले भेदज्ञान और उसके संस्कारों को हटाता है। भेद संस्कार प्रतीत होकर अभेदज्ञानकी याद दिलाते हैं।।३८।। जैसे अपने मुख का मोटा या लम्बा प्रतिबिम्ब देखने पर मुख का सहीपना ही याद आता है वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये।

कर्म अज्ञाननिवारक नहीं इसमें हेतु बताया था कि वह अज्ञान से ही उत्पन्न होता है। इस तथ्य का समर्थन उन्तीसवें श्लोक से कर चुके हैं। अब यह बतायेंगे कि क्यों कि अयथार्थ ज्ञान होने पर ही कर्म हो सकता है इसलिये भी कर्म अयथार्थ ज्ञान का निवर्तक नहीं हो सकता।

ब्राह्मणादि वर्ण, गृहस्थादि आश्रम, उम्र, तथा विशेष परिस्थिति वाले शरीरद्वय में 'यह मैं हूँ' ऐसी भावना लाकर ही व्यक्ति वाणी, मन और शरीर के कर्मों में वेद में बताये तरीके से ही करना रूप परतन्त्रता प्राप्त करता है।

---

१. कर्माज्ञानेति ज्ञानोत्तममिश्रः। अत्र मुद्रितमूलपाठानुसारित्वं भाति। अस्याष्टीकाया अनुरोधेन कर्मज्ञानेत्यतः पूर्वं तथेति भाव्यमिति। अथवा प्राक् इत्यमेव पाठ आसीदिति ज्ञेयम्।

२. एवमेषां श्लोके पाठो भवेत्।

श्रुतेः किङ्करतामेति[1] वाङ्मनःकायकर्मसु ॥३९॥
यस्मात्कर्माज्ञानसमुत्थमेव तस्मात्तद्व्यावृत्तौ निवर्तत इत्युच्यते–
दग्धाखिलाधिकारश्चेद् ब्रह्मज्ञानाग्निना मुनिः।
वर्तमानः श्रुतेर्मूर्ध्नि[2] नैव स्याद्वेदकिंकरः ॥४०॥

अथेतरो घनतराविद्यापटलसंवीतान्तःकरणोऽङ्गीकृतकर्तृत्वाद्यशेषकर्माधिकारकारणो विधिप्रतिषेधचोदनासंदंशोपदष्टः कर्मसु प्रवर्तमानः–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

भावनां लात्वा **समुपादायेत्यविद्यान्वयो दर्शितः। इदानीं तदधीनं कर्तृत्वभोक्तृत्वादिसंसारान्वयं दर्शयति–**श्रुतेरिति। किङ्करताम् **तन्नियोगात्तदुक्तकारिताम्।।३९।।**

अन्वयमुक्त्वा व्यतिरेकमाह–यस्मादिति। **अधिक्रियते कर्मण्यनेनेत्यधिकारो ब्राह्मण्याद्यभिमानः।** वर्तमानः श्रुतेर्मूर्ध्नि **प्रतिपाद्यतया ब्रह्मस्वरूपेण।।४०।।**

यः पुनर्वेदकिङ्करोऽविद्यान्वयेन संसारान्वयित्वेन दर्शितः, तस्य संसरणप्रकारं वैराग्योत्पादनायाह–अथेतर **इति। अङ्गीकृतं कर्तृत्व-**

अपनी वास्तविकता जानकर परतन्त्र नहीं होता।।३९।। जब तक 'मैं अमुक विशेषणों वाला देहादि हूँ' ऐसा निश्चय न हो तब तक शास्त्राज्ञा का पालन नहीं हो सकता, क्योंकि शास्त्र में तत्तद्वर्णादि वालों के लिये ही कर्मादि का विधान है।

क्योंकि कर्म अज्ञान से उत्पन्न हैं इसलिये अज्ञान के हट जाने पर निवृत्त हो जाते हैं, यह बताते हैं—

कर्म में अधिकार देने वाले 'मैं ब्राह्मणादि विशिष्ट देह हूँ' इस निश्चय के, 'मैं अकर्ता व्यापक निष्क्रिय चेतन हूँ' इस ज्ञानरूप अग्नि से जल चुकने पर मुक्त पुरुष वेद के प्रतिपाद्य परमात्मस्वरूप से रहता है, वेद की आज्ञाओं में बँधा नहीं रहता।।४०।।

जो अपने स्वरूप से अनभिज्ञ है वह आत्मवस्तु की यथार्थता को बिलकुल भी

---

१. किंकरतां—नियोज्यताम्। पारतन्त्र्यमिति भावः।

२. 'कर्मकाण्डाद्यात्मकस्य वेदस्य मूर्ध्नि अप्रतिपाद्यतया शब्दशक्त्यगोचरब्रह्मपदे वर्तमानो वेदकिंकरो न स्यात्। ब्रह्मभूततया विधिनिषेधातीतत्वादि'ति सारार्थकारः।

शुभैः[१] प्राप्नोति देवत्वं निषिद्धैर्नारकीं गतिम्।
उभाभ्यां पुण्यपापाभ्यां मानुष्यं लभतेऽवशः ॥४१॥

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्ते घोरे दुःखोदधौ घटीयन्त्रवदारोहावरोहन्यायेन अधममध्यमोत्तमसुखदुःखमोहविद्युच्चपलसंपातदायिनीर्विचित्र-योनीश्चण्डोत्पिञ्जलकश्वसनवेगाभिहताम्भोनिधिमध्यवर्तिशुष्कालाबुवत् शुभाशुभव्यामिश्रकर्मवायुसमीरितः–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

भोक्तृत्वब्राह्मण्यादिलक्षणमशेषं कर्माधिकारे कारणं येन स तथोक्तः। अत्र च पूर्वं पूर्वमुत्तरोत्तरस्य हेतुः। अवशः **कामकर्मादिपरतन्त्र इति यावत्।।४१।।**

उत्तरश्लोकगतस्यैवंशब्दस्यापेक्षितमर्थं प्रदर्शयन् संसारगतिमेव प्रपञ्चयति– आब्रह्मेति। योनीश्चङ्क्रम्यमाण **इति श्लोकगतपदेन सम्बन्धः। ता एव योनीर्विशिनष्टि–**अधमेति। अधम-मध्यमोत्तमा **ये** सुखदुःखमोहास्तेषां विद्युद्वच्चपलो **यस्सम्पातस्सम्पर्कस्तं दातुं शीलं यासां योनीनां तास्तथोक्ताः, ता एव** विचित्रा **देवतिर्यङ्नरकादिभेदेन। चङ्क्रमणे दृष्टान्तमाह–**चण्डेति। **उत्पिञ्जल** आकुलः[२]

न समझना रूप अज्ञान से ढकी बुद्धि वाला, 'मैं कर्ता हूँ' आदि वे निश्चय करता है जिनके होने पर कर्म करना ही पड़े। अत एव वह विधि-निषेध शास्त्र रूप सर्प से मानो डसा हुआ कर्मों में प्रवृत्ति करता है। इस प्रकार अज्ञान के कारण गलत निश्चय से स्वयं को विधि आदि का विषय मान कर प्रवृत्ति करता हुआ—**जिन्हें करने के लिये बताया है उन कर्मों को बाहुल्येन करने से स्वर्ग या देवत्व पाता है, जिन्हें करना मना किया है उन्हें बहुलता से करने पर नरक पाता है, व सामान्य रूप से कुछ-कुछ दोनों तरह के कर्म करने से मनुष्य योनि प्राप्त करता है। कामना कर्म आदि के अधीन पुरुष का यही हाल है।।४१।।**

जैसे रेहट ऊपर-नीचे जाता आता है वैसे ही चतुर्मुख ब्रह्मा से स्थिर वृक्ष पर्यन्त अत्यधिक दुःख के सागर में कभी निम्न सुख-दुःख अभिमान से बिजली की चमक की तरह अस्थिर सम्पर्क कराने वाली वृक्ष आदि योनि में, कभी सामान्य सुख-दुःख-

---

१. शुभैरिति—'पुण्येन पुण्यं लोकं जयति पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्' इति श्रुतेः।
२. आकुलीभूत इति भावः।

एवं चङ्क्रम्यमाणोऽयमविद्याकामकर्मभिः।
पाशितो जायते कामी म्रियते चासुखावृतः ॥४२॥
यथोक्तेऽर्थ आदरविधानाय प्रमाणोपन्यासः–
श्रुतिश्चेमं जगादार्थं कामस्य विनिवृत्तये।
तन्मूला संसृतिर्यस्मात्तन्नाशोऽज्ञानहानतः ॥४३॥
का त्वसौ श्रुतिरिति चेत्–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

चण्डश्चासावुत्पिञ्जलकश्चेति चण्डोत्पिञ्जलकः। श्वसनो **वायुः तस्य वेगेनाभिहतो योऽम्भोनिधिस्तन्मध्यवर्ति यच्छुष्कमलाबु तद्यथाऽतिशयेन भ्रमति, तद्वत् शुभमशुभं तदुभयं व्यामिश्रञ्च यत्कर्म स एव** वायुस्तेन समीरितः **प्रेरितः कामी जायत इति।।४२।।**

कामस्य संसरणकारणत्वं प्राधान्येनोक्तम्। तत्र श्रुतिस्मृती प्रमाणमिति दर्शयितुमाह–यथोक्तेति। यस्मात् **संसृतिस्तस्मात्तस्य** विनिवृत्तये श्रुतिर्जगादेत्यन्वयः। **कथं तर्हि तन्निवृत्तिरित्यत आह–**तन्नाश इति।।४३।।

'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते'।। 'इति नु कामयमानोऽथाकामयमानो योऽकामो निष्काम

अभिमानसे वैसा ही सम्पर्क कराने वाली मनुष्यादि योनि में, व कभी उत्तम सुख-दुःख-अभिमान से अस्थिर सम्पर्क कराने वाली ब्रह्मा आदि योनि में तेज हवा से हिलने वाले समुद्र के बीच पड़ी सूखी तुम्बी की तरह अच्छे, बुरे और मिले-जुले कर्मरूप वायु से हिलाया जाता हुआ—**यह पुरुष अज्ञान, कामना और कर्म से नियन्त्रित हो इधर से उधर आता जाता रहता है व बहुतेरी इच्छाओं को लेकर पैदा होता है और उनकी पूर्ति न होने से पूरी तरह सुख पाये बिना ही मर जाता है।।४२।।** जीवों की दयनीय स्थिति का यथावत् वर्णन इसलिये किया है कि इस परिस्थिति से वैराग्य हो।

उक्त विषय में श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए प्रमाण उपस्थित करते हैं—**क्योंकि कामना ही संसरण का मुख्य उपलब्ध कारण है इसलिये कामना को हटाने के लिए वेद ने पूर्वोक्त तात्पर्य प्रकट किया है। कामना की निवृत्ति उसके कारणभूत अज्ञान के हटने पर ही हो सकती है।।४३।।**

वेदादि में यह जहाँ बताया है वे स्थल दिखाते हैं—

'जब मन में रहने वाली सब कामनायें हट जायेंगी तब मरणधर्मा

'यदा सर्वे प्रमुच्यन्त' 'इति नु' इति च वाजिनः ।
कामबन्धनमेवेदं व्यासोऽप्याह पदे पदे ॥४४॥

एष संसारपन्था व्याख्यातः। अथेदानीं तद्व्यावृत्तये कर्माण्यारादुपकारकत्वेन[1] यथा मोक्षहेतुतां प्रतिपद्यन्ते तथा अभिधीयते–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

आप्तकाम आत्मकामो', 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' इत्यादि वाजिशाखिन आहुरित्यन्वयः। 'कामबन्धनमेवेदं नान्यदस्तीह बन्धनम्' इत्यादिना व्यासेनापि कामस्य संसारकारणत्वं स्मर्यत इत्यर्थः।।४४।।

एवन्तावत्कामस्य संसारकारणत्वमुक्तं तस्य च 'तन्नाशोऽज्ञानहानत' इति ज्ञानादज्ञाननिवृत्त्या निवृत्तिरप्युक्ता। तत्र सर्वथा कर्मणां मुक्तावप्यनुपयोग-शङ्कायामुपयोगप्रकारप्रदर्शनायोत्तरग्रन्थ इत्याह–एष इति। कथञ्चिदिति

अमर होकर इसी जीवन में अपने व्यापक स्वरूप में स्थित हो जायेगा।' (बृह. ४.४.७; कठ. ४.१४); 'जो आत्मा की ही कामना करने के कारण सब कामनाओं से रहित हो गया है, उसी की सब कामनायें पूर्ण हो गयी हैं। उसका अन्यत्र फिर जन्म नहीं होता। जीवन काल में भी वह व्यापक स्वरूप में रहता है और जीवन-समाप्ति पर भी अपने उसी स्वरूप में रहता है।' (बृ. ४.४.६) आदि यजुर्वेद में यह बताया है। व्यास जी ने भी जगह-जगह संसार को कामना से नियन्त्रित अर्थात् उसी के कारण होने वाला बताया है।।४४।।

अभी संसरण का रास्ता बताया। अब संसरण की समाप्ति के लिये कर्म किस प्रकार मोक्ष के लिये दूर से उपकारक है, यह बतायेंगे। लौकिक व बुरे कर्मों की तरह शास्त्रीय कर्म मोक्ष के लिये सर्वथा बेकार हो यह बात नहीं। **इस प्रकार दुःख से तपे हुए तथा भगवत्कृपादि किसी हेतु से सत्कर्म करने के कारण एवं अवश्य करणीय कर्म करने से शुद्ध चित्त वाले पुरुष को कामनावश किये जाने वाले**

---

१. आरादुपकारकत्वं च प्रधानस्वरूपानिर्वाहकत्वे सति फलजनकतांशे प्रधानस्योपकारकत्वम्। संनिपत्योपकारकत्वं च प्रधानस्वरूपनिर्वाहकत्वमिति सारार्थः।

तस्यैवं दुःखतप्तस्य कथञ्चित्पुण्यशीलनात् ।
नित्येहाक्षालितधियो वैराग्यं जायते हृदि ॥४५॥
कीदृग्वैराग्यमुत्पद्यत इति, उच्यते–
नरकाद्धीर्यथाऽस्याभूत्तथा काम्यफलादपि ।
यथार्थदर्शनात्तस्मान्नित्यं कर्म चिकीर्षति ॥४६॥
एवं नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानेन–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

पुण्यशीलनस्य दुर्लभतां दर्शयति। काम्ये पुण्येऽप्यानुषङ्गिकी[1] शुद्धिरस्तीति। ततो नित्यानुष्ठाने बुद्धिरुत्पद्यते। एवं नित्येहया नित्यकर्मानुष्ठानेन विशुद्धबुद्धेः काम्यकर्मफलेषु वैराग्यं जायत **इत्यर्थः।।४५।।**

यथार्थदर्शनादिति। **काम्यफलस्यानित्यत्व–सातिशयत्व-दुःखबहुलत्वादि-दोषदर्शनात् काम्यकर्मभ्यो व्यावृत्तः पुनस्तदेव** नित्यं कर्म **तात्पर्येणानुष्ठातुमिच्छतीत्यर्थः।।४६।।**

भवत्वेवं काम्यपरित्यागेन[2] नित्यनैमित्तिककर्मणामेवानुष्ठानं, तथापि केन द्वारेण तेषां मोक्षहेतुत्वमित्यत आह–एवमिति। **चित्तशुद्धिवैराग्याति-**

कर्मों को करने की इच्छा नहीं रहती।।४५।। पहले तो व्यक्ति कामना—प्रयुक्त हो कर्म करता है किन्तु क्योंकि कर्म शुद्ध होते हैं इसलिये वे इसे धीरे-धीरे कामदोष से छुड़ा देते हैं।

कामना-प्रयुक्त कर्मों के प्रति वैराग्य का वर्णन करते हैं—**फलों की अनित्यता आदि वास्तविकता समझ लेने पर इच्छित फलों से भी वैसा ही डर हो जाता है जैसा पहले नरक से होता है। अतः विवेकी काम-प्रयुक्त कर्मों को छोड़ केवल अवश्य करणीय कर्म ही करना चाहता है।।४६।।**

ऐसा करने पर—**परमात्मा की प्रसन्नता के लिये किये कर्म बाकी सब**

---

१. एकःकाम्योऽपरो नित्यस्तथा नैमित्तिकोऽपरः।
प्राधान्येन फलं शुद्धिरार्थिकी काम्यकर्मणः।।२।।
प्राधान्येन फलं शुद्धिर्नित्यस्य फलमार्थिकम्।
केवलं प्रत्यवायस्य निवृत्तिरितरस्य तु।।३।। (सूतसंहिता-४.२.३)

२. काम्यकर्मपरित्यागेनेत्यर्थः।

शुध्यमानं तु तच्चित्तमीश्वरार्पितकर्मभिः ।
वैराग्यं ब्रह्मलोकादौ व्यनक्त्यथ सुनिर्मलम् ॥४७॥

यस्माद् रजस्तमोमलोपसंसृष्टमेव चित्तं कामबडिशेनाऽऽकृष्य विषयदुरन्तसूनास्थानेषु निक्षिप्यते, तस्मान्नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठान-परिमार्जनेनापविद्धरजस्तमोमलं प्रसन्नमनाकुलं संमार्जितस्फटिक-शिलाकल्पं बाह्यविषयहेतुकेन च रागद्वेषात्मकेनातिग्रह-

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

शयोत्पादनद्वारेणेत्यर्थः ।।४७।।

ननु किमुत (मिति) वैराग्येण; तस्य मोक्षसाधनत्वेन तत्सहकारित्वेन चाश्रवणादित्याशङ्क्य, रागस्य मोक्षोपाये प्रवृत्तिप्रतिबन्धकरागाभावतया वैराग्यस्य मोक्षप्रवृत्तिहेतुतामुपपत्तिपुरस्सरं दर्शयति–यस्मादित्यादिना। **रजस्तमसी एव हेयत्वान्मलवन्मलं तेन मलेनानुषक्तमन्तःकरणं, कामाख्येन बडिशवदाकर्षकत्वात् बडिशेनाकृष्य विषयप्रवणं विधाय, विषयाश्शब्दादय एव दुरन्तानि** सूनास्थानानि **हिंसास्थानानि विषयपरायणानां पुनः पुनर्मरणादिदुःखहेतुत्वात्, तेषु मत्स्यादिवद् निक्षिप्यते यस्मात् तस्माद् नित्याद्यनुष्ठानात्तथाभूतप्रतिबन्धक्षये यथोक्तविशेषणं** चित्तदर्पणं प्रत्यङ्मात्रप्रवणमवतिष्ठते **इत्यन्वयः।** अपविद्धरजस्तमोमलं **व्यावृत्तरजस्तमोमलं अतएव** प्रसन्नमनाकुलम् **अचलम्। प्रसन्नतायां दृष्टान्तमाह**–सुमार्जितेति[1]। **अतएव**

इच्छाओं के हटने से मन को शुद्ध करते हैं। जिससे ब्रह्मलोक आदि श्रेष्ठ फलों के प्रति भी दृढ वैराग्य होने से मन के सब मल दूर हो जाते हैं।।४७।। क्योंकि राग आत्मज्ञान में अड़चन पैदा करता है, इसलिये उसका विरोधी वैराग्य उसमें सहायक हो यह सुसंगत है।

क्योंकि राग-द्वेष और अविवेकरूप मैल वाला मन कामना रूप काँटे से खिंचकर, परिणाम में दुःखदायी शब्दादि विषयरूप बूचड़खाने में डाला जाता है, इसलिये अवश्य करणीय कर्म करके इच्छाओं को कम कर राग-द्वेष हटाने चाहिये व उनके हटने पर वस्तु के यथार्थ स्वरूप का विचार कर अविवेक हटाना चाहिये जिससे चमकाई हुई स्फटिक मणि की पट्टी की तरह स्वच्छ—अर्थात् शान्त और निश्चल—मनरूप दर्पण बाह्य विषयों में राग-द्वेषरूप कामना से आकृष्ट न हो और सब मलों के हटने से आत्मा

१. संमार्जितेति मूलपाठः।

बडिशेन[1] अनाकृष्यमाणं विधूताशेषकल्मषं प्रत्यङ्मात्रप्रवणं चितदर्पणमवतिष्ठते। अत इदमभिधीयते–

व्युत्थिताशेषकामेभ्यो यदा धीरवतिष्ठते[2] ।
तदैव प्रत्यगात्मानं स्वयमेवाविविक्षति ॥४८॥

अतः परम् अवसिताधिकाराणि कर्माणि प्रत्यक्प्रवणत्वसूनौ कृतसंप्रत्तिकानि चरितार्थानि सन्ति–

प्रत्यक्प्रवणतां बुद्धेः कर्माण्युत्पाद्य शुद्धितः ।
कृतार्थान्यस्तमायान्ति प्रावृडन्ते घना इव ॥४९॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

ये बाह्यादयो विषयास्तद्धेतुकौ यौ रागद्वेषौ तल्लक्षणेनातिग्रहबडिशेन विषयान्तं प्रति अनाकृष्यमाणम्। **अत्र च 'कामेनातिग्रहेण गृहीत' इति कामस्यातिग्रहत्ववचनादस्य च द्वेषोपलक्षणार्थत्वाद्रागद्वेषयोरतिग्रहात्मकत्वम्। तेनाकृष्यमाणत्वे हेतुः**–विधूतेति।।४८।।

एवं विशुद्धान्तःकरणस्योत्पन्नवैराग्यस्य सर्वकर्मसंन्यासेऽधिकार इत्यभिप्रेत्याह–अतः परमिति। **'यद्यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत्कामस्य चेष्टितमि'ति वचनात् कर्मप्रवृत्तिनिमित्तस्य कामस्य निवृत्तत्वात्** कर्माण्यवसिताधिकाराण्युच्यन्ते। प्रत्यक्प्रवणत्वसूनौ कृतसंप्रत्तिकानि; **सम्प्रत्तिर्नाम स्वकार्याणां पुत्रे समर्पणम्। अत एव** चरितार्थानि **कृतप्रयोजनानि,** अस्तमायान्तीति

की ओर ही अनुरक्त हो। इसलिये यह कहते हैं—**बाह्य विषयों की सब कामनाओं को जब बुद्धि छोड़ देती है तब वह खुद ही केवल आत्मा को जानने की इच्छा करती है।**।४८।। ऐसा हो जाने पर फिर कर्म करने की कोई जरूरत नहीं, क्योंकि आत्मा में प्रेमरूप पुत्र उत्पन्न कर उसे अपने सब कर्म समर्पित कर ही कर्मों का प्रयोजन पूरा हो जाता है—**उक्त प्रकार से इच्छाओं को हटाने के कारण बुद्धि में परमात्मा के लिये प्रेम उत्पन्न करने से कर्म कृतार्थ होकर उसी प्रकार समाप्त हो जाते हैं जिस प्रकार बादल पानी बरसाने से कृतार्थ होकर समाप्त हो जाते हैं।**।४९।। क्योंकि अवश्य करणीय कर्मों को करने की यह महिमा है—**इसलिये आत्मज्ञानरूप मोक्ष**

१. अतिग्रहबडिशेन—अष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहा इत्यत्र श्रुतौ ग्राहकत्वाद् ग्रहत्वमिन्द्रियाणमतीव-बन्धकत्वात्पुरुषस्यातिग्रहत्वं कामस्योक्तम्। तदुच्यते अतिग्रहबडिशेनेति। (नै.सि. विवरण)
२. यदा धीरवतिष्ठते—'अवतिष्ठते उद्रिक्तसत्त्वमात्रं भवति'। (सारार्थः)

यतो नित्यकर्मानुष्ठानस्यैष महिमा–

तस्मान्मुमुक्षुभिः कार्यमात्मज्ञानाभिलाषिभिः ।
नित्यं नैमित्तिकं कर्म सदैवाऽऽत्मविशुद्धये ॥५०॥
यथोक्तेऽर्थे सर्वज्ञवचनं प्रमाणम्–
'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शम' एवेति च स्मृतिः ॥५१॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

श्लोकपदेन सम्बन्धः[१]।।४९।।

एवं कर्मणामन्तःकरणशुद्धिद्वारेण प्रवणताहेतुत्वाद्[२] अस्त्येव मुक्तावुपयोग इत्युपसंहरति–यत इति।।५०।।

कर्मणां मुक्तावारादुपकारकत्वं, न तु साक्षादित्युक्तम्। तस्मिन्नर्थे भगवद्वचनं प्रमाणमित्याह–यथोक्त **इति।** आरुरुक्षोस्सम्यग्दर्शनसाधनं **ध्यानयोगमारोढुमिच्छोस्तदनुष्ठानासमर्थस्य** शमः **कर्मणामुपशमः संन्यासः** कारणम्। **योगावाप्तौ च साधनमिति वदन् परम्परैव[°रयैव] कर्मणां मोक्षोपायत्वं दर्शयतीत्यर्थः।।५१।।**

चाहने वालों द्वारा मन को सदा इच्छारहित करने के लिये अवश्य करणीय कर्म किये जाने चाहिये।॥५०॥ नित्यादि कर्म करने से होने वाली चित्तशुद्धि सदा बनी रहती है, अतएव कर्मों की महत्ता है। 'सदा कर्म करना चाहिये'—यह अर्थ नहीं, क्योंकि पूर्वश्लोक में ही कर्मों की समाप्ति का वर्णन किया जा चुका है।

मुक्ति के लिये कर्म की दूर से या क्रम से उपयोगिता में भगवान् कृष्ण के वचन को प्रमाणरूप से उद्धृत करते हैं—**'जो व्यक्ति आत्मा के यथार्थ ज्ञान के उपाय ध्यानयोग को करना चाहता है पर कर पाने में असमर्थ है वह उसे करने की सामर्थ्य पाये इसके लिये शास्त्रों में बताया उपाय है फलेच्छा छोड़कर अवश्यकरणीय कर्मों को करना। जो तो ज्ञान-साधन के अनुष्ठान में समर्थ है, उसके लिये सब कर्मों का त्यागरूप संन्यास ही ज्ञानप्राप्ति में उपयोगी बताया गया है।' ऐसा श्रीभगवद्गीता में कहा है**॥५१॥ कर्म उपाय है योग-प्राप्ति का—

---

१. कर्माणि अन्तःकरणशुद्ध्युत्पादनद्वारेण तस्य प्रत्यक्प्रवणतामुत्पाद्य कृतार्थानि सन्त्यस्तमायान्ति। अर्थात् मोक्षम्प्रति कर्मण एवंप्रकारेण आरादुपकारकत्वं सिद्ध्यति।

२. प्रत्यक्प्रवणताहेतुत्वाद्—इति चन्द्रिकानुसारी।

नित्यकर्मानुष्ठानाद्धर्मोत्पत्तिः, धर्मोत्पत्तेः पापहानिः ततश्चित्तशुद्धिः, ततः संसारयाथात्म्यावबोधः, ततो वैराग्यम्, ततो मुमुक्षुत्वम्, ततस्तदुपायपर्येषणम्, ततः सर्वकर्मतत्साधनसंन्यासः, ततो योगाभ्यासः, ततश्चित्तस्य प्रत्यक्प्रवणता, ततस्तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थपरिज्ञानम्,

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

कर्मणां पारम्पर्येण मुक्तावुपयोगो दर्शितस्तदेव पारम्पर्यमिदानीं दर्शयति– नित्येति। धर्मोत्पत्तिः **अदृष्टोत्पत्तिः।** पापहानिः **'पुण्येन (धर्मेण) पापमपनुदती'ति श्रुतेः।** चित्तशुद्धिः **चित्तस्य विवेकक्षमत्वम्। याथात्म्यावबोधः अनित्यत्वादिदोषदर्शनम्।** योगाभ्यासः **श्रवणमनन-निदिध्यासनादी-नामनुष्ठानम्। अत्र** चित्तस्य प्रत्यक्प्रवणता **नाम प्रत्यगात्मन्येवाप्रयत्नेनावस्थानं, कर्मसंन्यासस्य हेतुत्वेन पूर्वोदिता तु प्रत्यक्प्रवणता प्रत्यगात्मविविदिषामात्ररूपेति**

यह कहकर स्पष्ट कर दिया कि मोक्ष के लिये कर्म का साक्षाद् उपयोग नहीं है।

कर्म का मोक्ष के लिये दूर से—किसी अन्य को माध्यम बनाकर उपयोगी होना बताया। अब उस दूरी का स्वरूप प्रकट करते[१] हैं—अवश्यकरणीय कर्म करने से मन में धर्मनामक एक विशेषता उत्पन्न होती है। उस विशेषता से हमारे पापरूप बुरे संस्कार समाप्त होते हैं। पापसमाप्ति से मन में यथार्थ और अयथार्थ को पहचानने की क्षमता आती है। उस क्षमता के आने पर संसार के अनित्यादि वास्तविक स्वरूप का पता चलता है। संसार को सीप में चाँदी की तरह अयथार्थ जान लेने पर उसके प्रति कोई आकर्षण नहीं रह जाता। उस आकर्षण के अभाव में लौकिक उपायों का सहारा न लेने से जिन दुःखों को सहना पड़ता है उनसे छूटने की इच्छा होती है। संसार को अवास्तविक जान लेने से स्वभावतः ही वास्तविक वस्तु को जानने की तीव्र इच्छा होती है। उस इच्छावश दुःख से छूटने के और सत्य को जानने के उपायों को ढूँढा जाता है। इस तलाश में पूरी तरह लगने पर व्यक्ति न तो कोई अन्य कर्म करता है और न ही कर्म करने के साधनों को अपने पास रखता है, क्योंकि उसने कर्म व उसके फल के वास्तविक अनित्यादि रूप को जान लिया है। यही संन्यास है। इस तरह एकान्तभाव से ढूँढते हुए गुरु व शास्त्र की उपलब्धि होती है जिनके आदेशानुसार अनुभव के आधार पर पूरी चौकसी से सत्यवस्तु का विचार करना रूप योग किया जाता है। इसे करने पर तैत्तिरीयोपनिषदादि

---

१. भामती में (३.४.२७) भी इस प्रसंग का स्पष्ट वर्णन दर्शनीय है।

ततोऽविद्योच्छेदः, ततश्च स्वात्मन्येवावस्थानम् 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (बृ. ४-४-६), 'विमुक्तश्च विमुच्यते' (का. २-२-१) इति–

पारम्पर्येण कर्मैवं स्यादविद्यानिवृत्तये।
ज्ञानवन्नाविरोधित्वात् कर्माविद्यां निरस्यति ॥५२॥

न च कर्मणः कार्यमण्वपि मुक्तौ संभाव्यते। नापि मुक्तौ यत्संभवति तत् कर्मापेक्षते। यदुच्यते[1]–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

न पूर्वापरविरोधः। वाक्यार्थपरिज्ञानं साक्षात्कारलक्षणं स्वात्मन्यवस्थानमित्यत्र प्रमाणमाह–ब्रह्मैवेति। साक्षादेवाविद्यानिवर्तकं कर्म किं न स्यादित्यत आह ज्ञानवदिति।।५२।।

कर्मणस्साक्षान्मोक्षसाधनत्वाभावे युक्त्यन्तरमाह–न चेति। **मुक्तौ**

में बताये ढंग से अन्न, प्राण, मन आदि को सत्य मानकर, फिर उनकी भी असत्यता समझकर अन्त में इस निर्णय को करता है कि वास्तविक सत्य तो आनन्दरूप आत्मा ही है। ऐसा निश्चय होने पर वह आत्मविषयक चिन्तन ही करने लगता है। इस अवस्था में जब उसे कहा जाता है कि 'तू ही आत्मा है' तब आत्मविषयक किसी भ्रम के न होने से वह यह स्पष्ट अनुभव करता है कि जो सूर्यादि में व्यापक है और जो मुझमें भास रहा है यह एक ही है—मैं ही हूँ। इस तरह सत्य जानते ही उसका उसे न जानना—सत्य का अज्ञान—समाप्त हो जाता है और वह अपने नित्य तृप्त स्वरूप में बना रहता है, उससे भिन्न किसी विशेष वाला स्वयं को मानता नहीं। यद्यपि वस्तुतः वह सदा ही अद्वितीय आनन्द रहा तथापि पहले अपनी सद्वितीय दुःखी-रूपता का भ्रम था अतः उस भ्रम के हटने पर कह दिया जाता है कि वह अब अपने स्वरूप में स्थित हो गया। इसे वेद यों कहता है 'ब्रह्म होता हुआ ही ब्रह्मको पा लेता है' (बृ. ४.४.६) व 'मुक्त ही मुक्त हो जाता है' (कठ. ५.१)।—**इस प्रकार आत्मा को न जानने की निवृत्ति के लिये कर्म परम्परा से ही उपयोगी है। आत्मा की वास्तविकता को न जानने से कर्म का कोई विरोध न होने के कारण वह उसे साक्षात्–सीधे ही–निवृत्त नहीं कर सकता जिस तरह न जानने का विरोधी जान लेना–ज्ञान–उसे निवृत्त कर सकता है।।५२।।**

कर्म के फल हैं पैदा करना आदि और मोक्ष है आत्मज्ञानरूप अतः मोक्ष कर्म का

---

१. तदुच्यत इत्यन्यत्र मुद्रितपाठः।

[1]उत्पाद्यमाप्यं संस्कार्यं विकार्यं च क्रियाफलम्।
नैवं मुक्तिर्यतस्तस्मात् कर्म तस्या न साधनम् ॥५३॥

एवं तावत् केवलं कर्म साक्षादविद्यापनुत्तये न पर्याप्तमिति प्रपञ्चितम्। मुक्तौ च मुमुक्षुज्ञानतद्विषयस्वाभाव्यानुरोधेन सर्वप्रकारस्यापि कर्मणोऽसंभव उक्तो 'हितं संप्रेप्सताम्' (१-२९) इत्यादिना।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

यत्सम्भवति **इति स्वरूपावस्थानमुच्यते।।५३।।**

वृत्तसंकीर्तनपूर्वकं वर्तिष्यमाणग्रन्थसन्दर्भस्य तात्पर्यमाह–एवं तावदिति। **अनित्यफलाद्विरक्तत्वं मुमुक्षुस्वभावः। ज्ञानस्य प्रमाणवस्तुपरतन्त्रतया अविद्या-निवर्तकत्वं स्वभावः। ज्ञानविषयस्य चात्मनः कूटस्थत्वेनासाध्यत्वं (स्वभावः। पूर्वं केवलकर्मणां मुक्तिसाधनत्वं[2]) निराकृतम्। अधुना ज्ञानेनाङ्गाङ्गिभावेन समप्रधानतया वा समुच्चितस्यापि मुक्तिसाधनत्वं न सम्भवतीति उच्यत इत्यर्थः। एवं समुदायतात्पर्यमभिधायाधुना समनन्तरश्लोकतात्पर्यमाह–**तत्रेति।

फल हो यह किसी तरह सम्भव नहीं। मुक्ति है अपने ही स्वरूप में स्थिति तथा इसे किसी कर्म की अपेक्षा हो नहीं सकती कारण कि यदि अपने से भिन्न का अपने से सम्बन्ध स्थापित करना हो तभी कर्म की अपेक्षा हुआ करती है। यही कहते हैं—**पैदा होना, मिलना (प्राप्त होना), सुधरना व बिगड़ना–ये चार ही क्रिया के फल हो सकते हैं। क्योंकि मुक्ति इनमें से किसी स्वरूप वाली नहीं, इसलिये कर्म उसका साधन नहीं।।५३।।** नित्य, स्वरूप और अपरिवर्तनीय होने से आत्मरूप मोक्ष क्रिया-फलात्मक नहीं है।

इस प्रकार बताया कि कर्म स्वयं साक्षाद् अज्ञान हटाने में समर्थ नहीं। मोक्ष से कर्म का कोई भी सम्बन्ध असम्भव है, क्योंकि मोक्ष चाहने वाला साधक भी[3] कर्म की अनित्यता—अनित्यफलता—जानने से उसमें प्रवृत्त नहीं हो सकता। ज्ञान अपने स्वभाव से ही अज्ञान का नाश कर उसके कार्यभूत कर्म को भी नष्ट कर देता है। आत्मा तो व्यापकादि होने से निष्कर्मा है ही। उनतीसवें श्लोक में बताया जा चुका है कि कर्म अज्ञान

---

१. उत्पाद्यमित्यादि—भावप्रधानो निर्देशः उत्पाद्यत्वमित्यर्थः।
२. कुण्डलितभागश्चन्द्रिकातो ग्राह्योऽत्र।
३. उपदेशसाहस्री में स्पष्ट कहा है 'साहैव विदुषा तस्मात् कर्म हेयं मुमुक्षुणा' (१.५)।

यादृशश्चाऽऽदुपकारकत्वेन ज्ञानोत्पत्तौ कर्मणां समुच्चयः[1] संभवति तथा प्रतिपादितम्। अविद्योच्छित्तौ[2] तु लब्धात्मस्वभावस्य आत्मज्ञानस्यैवासाधारणं साधकतमत्वं, नान्यस्य प्रधानभूतस्य गुणभूतस्य च– इत्येतदधुनोच्यते। तत्र ज्ञानं गुणभूतं तावदहेतुरित्येतदाह–

संनिपत्य न च ज्ञानं कर्माज्ञानं निरस्यति।
साध्यसाधनभावत्वादेककालानवस्थितेः ॥५४॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

कर्मणोऽङ्गत्वेन सन्निपत्य ज्ञानमविद्यां न निरस्यति। कुत इत्यत्राह–साध्येति। **तत्रान्तःकरण-शुद्धिद्वारेण कर्म साधनं च ज्ञानं साध्यमत** एवैककालानवस्थितेर्नाङ्गाङ्गिभावः। **तत्साध्यस्य तदङ्गत्वादृष्टेरेकप्रयोगानारूढत्वाज्जन्मान्तरानुष्ठितस्यापि कर्मणो ज्ञानसाधनत्वाङ्गीकाराच्चेत्यर्थः।।५४।।**

से ही सम्भव है। मोक्ष के लिये कर्म की क्रम से—दूर से, माध्यम के द्वारा—उपयोगिता है यह भी समझा दिया गया है। अविद्या की निवृत्ति में तो नित्यप्राप्त ज्ञानस्वरूप आत्मा की प्रमा ही विशेषरूप से एवं साक्षात् कारण है। आत्मप्रमा से अतिरिक्त कुछ भी ऐसा नहीं जो प्रधान या गौण रूप से अविद्या-हानि का निश्चित व साक्षात् कारण हो। इसे सुस्पष्ट करने के लिये पहले यह बताते हैं कि ज्ञान गौण और कर्म प्रधान होकर मोक्ष का कारण नहीं। कर्म अकेला तो मोक्ष का साधन नहीं ही है यह सिद्ध हो चुकने पर ज्ञान के सहारे भी—ज्ञान के साथ विद्यमान होकर—वह मुक्त्युपाय नहीं हो सकता यह बतायेंगे। यद्यपि ज्ञानोत्पादक होने से कर्म की मोक्षसाधनता अभीष्ट है तथापि वह इसकी अपेक्षा रखती है कि ज्ञानप्राप्ति के पूर्व कर्मत्याग हो, अतः ज्ञान व कर्म का साक्षात् सम्बद्ध होकर रहना असम्भव होने से मोक्षोपाय ज्ञान का उपाय होने पर भी कर्म मोक्षोपाय नहीं कहा जा सकता, प्रत्युत यदि कहना ही हो तो कर्मत्याग को मोक्षोपाय कह भी सकते हैं, कारण कि वह ज्ञान से साक्षात् सम्बद्ध होकर रहता है। आचार्यों ने कहा ही है कि संन्यासनिष्ठ ब्रह्मविद्या मोक्ष का साधन है, न कि कर्मसहित ब्रह्मविद्या (मु.भा. उपोद्घात)।

---

१. समुच्चयः—एककार्यकारित्वमिति भावः।

२. अविद्योच्छित्तौ—केवलकर्मणां मोक्षसाधनत्वं प्रभाकराभिमतं निराकृत्य सम्प्रत्यङ्गाङ्गिभावेन वा समप्राधान्येन वा समुच्चितानामपि कर्मणां भाट्टाभिमतं मोक्षसाधनत्वं न सम्भवतीति प्रतिपाद्यते।

समप्रधानयोरप्यसंभव एव–
बाध्यबाधकभावाच्च पञ्चास्योरणयोरिव।
एकदेशानवस्थानान्न समुच्चयता तयोः ॥५५॥
कुतो बाध्यबाधकभावः? यस्मात्–
अयथावस्त्वविद्या स्याद् विद्या तस्या विरोधिनी।
समुच्चयस्तयोरेवं रविशार्वरयोरिव ॥५६॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

ज्ञानकर्मणोस्समसमुच्चयनिरासायाह[1]–समप्रधानयोरिति। पञ्चास्यः **सिंहः** उरणो **मेषः। एकदेशे एकस्मिन्नाश्रयेऽनवस्थानात्**[2]।।५५।।

उक्तस्य बाध्यबाधकहेतोः समर्थनायाह–कुत **इति।।५६।।**

कर्म का अंग होकर ज्ञान अज्ञान को निवृत्त करे यह नहीं हो सकता; क्योंकि कर्म मन को शुद्ध करने से ज्ञान का साधन है व साध्य ज्ञान के साथ साधन कर्म एक ही समय रहे यह सम्भव नहीं।।५४।। पूर्वजन्म में किये कर्म भी इस जन्म में ज्ञानार्थ प्रवृत्ति कराने वाले माने गये हैं—'ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात्' (ब्र.सू. ३.४.५१)—इसलिये भी कर्मों की साक्षात् साधनता नहीं हो सकती।

गौण-मुख्य न होकर बराबरी की प्रधानता वाले रहते हुए भी ज्ञान व कर्म मिलकर मोक्ष के उपाय हों यह नामुमकिन है। **क्योंकि ज्ञान कर्म को समाप्त कर देता है, इसलिये इनका मेल वैसे ही नहीं हो सकता जैसे शेर और मेढे का।।५५।।**

ज्ञान अविद्याकार्यभूत कर्म का नाश क्यों करता है, यह बताते हैं—**आत्मा को न जानने से केवल अपने में माने हुए कर्तापन आदि के निश्चय से होने वाला कर्म, जो अविद्याकार्य होने से अविद्यात्मक ही है, यथार्थ नहीं हो सकता। आत्मा का ज्ञान उसका–आत्मा के अज्ञान का अत एव तदात्मक कर्म का–विरोधी है। इन दोनों का–ज्ञान व अविद्यात्मक कर्म का–साथ-साथ रहना वैसे ही असंभव है जैसे सूर्य व अँधेरी रात का साथ रहना असंभव है।।५६।।** कर्म तभी संभव है जब देहादि अनात्मा में आत्मबुद्धि आदि अध्यास हो और अध्यास अविद्या के रहते ही हो सकता है। ज्ञान अज्ञान का निवर्तक प्रसिद्ध है। अतः ज्ञान व कर्म की सह अवस्थिति संभव ही कैसे होगी?

---

१. ज्ञानकर्मणोः क्रमसमुच्चयस्य सिद्धान्तसम्मतत्वात्।

२. न समप्रधानतापि तयोरिति शेषः।

[१]तस्मादकारकब्रह्मात्मनि[२] परिसमाप्तावबोधस्य अशेषकर्म-चोदनानाम् अचोद्यस्वाभाव्यात् कुण्ठता। कथम्? तदभिधीयते–

बृहस्पतिसवे यद्वत् क्षत्रियो न प्रवर्तते।
ब्राह्मणत्वाद्यहंमानी विप्रो वा क्षत्रकर्मणि ॥५७॥

यथायं दृष्टान्त एवं दार्ष्टान्तिकोऽपीत्येतदाह–

विदेहो[३] वीतसन्देहो[४] नेति नेत्यवबोधितः[५]।
देहाद्यनात्मदृक् तद्वत्तत्क्रियां वीक्षतेऽपि न[६] ॥५८॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

तस्माज्ज्ञानिनो न कर्मनियोगविषयत्वमित्युपसंहरति–तस्मादिति। तत्तद्वर्णाश्रमाद्यभिमानशून्यत्वमत्र हेतुरिति सदृष्टान्तमाह–बृहस्पतीति।।५७।।

विदेह इति स्थूलशरीराभिमानाभावमाह। वीतसन्देहो विगतसन्देहः। एतेन सन्देह इति[७] स्थूलशरीराभिमानाभावस्सूच्यते। तत्र हेतुः नेति नेतीति।।५८।।

क्योंकि ज्ञान और कर्म साथ नहीं रह सकते इसलिये व्यापक आत्मा को भली भाँति जानने वाले का कर्म में अधिकार देने वाले अभिमानों से रहित स्वभाव होने के कारण सारे ही कर्म उसके प्रति कुण्ठित हो जाते हैं अर्थात् उसपर कर्म-विधि लागू नहीं होती। इसमें कारण बताते हैं—**'मैं क्षत्रिय हूँ' ऐसे दृढ निश्चय वाला बृहस्पति-यज्ञ को करने के लिये प्रवृत्ति नहीं करता जिसे करने का अधिकार केवल ब्राह्मण को है। 'मैं ब्राह्मण हूँ' ऐसे दृढ निश्चय वाला वेदपाठी भी युद्ध, राजसूय आदि क्षत्रिय-कर्मों को करने में प्रवृत्त नहीं होता।।**५७।। जैसे ये दृष्टान्त हैं वैसे ही व्याख्येय दार्ष्टान्त किस तरह है, यह बताते है,—**'यह नहीं है' आदि प्रक्रिया से हर भेद की**

---

१. 'पूर्वं विदुषः कर्माङ्गीकृत्य समुच्चयो नास्तीत्युक्तम्। इदानीं कर्मैव न सम्भवतीत्युच्यते'। (विद्यासुरभिः)
२. अशेषभूते स्वतन्त्रे ब्रह्मणीति भावः।
३. विदेह इति देहमात्राभिमानाभावः।
४. वीतसंदेह इति निवृत्तभ्रमादितया चित्तशुद्धिरुक्ता।
५. अवशेषित इत्यपि पाठः।
६. तद्वत् = यथा दृष्टान्ते। तत्क्रियां—देहादिक्रियाम्। न वीक्षते-अभिमानेन न गृह्णाति।
७. 'संशयात्मकसूक्ष्मशरीराभावः सूच्यते'—चन्द्रिका।

तस्यार्थस्याविष्करणार्थमुदाहरणम्–

मृत्स्नेभके यथेभत्वं शिशुरध्यस्य वल्गति।
अध्यस्याऽऽत्मनि देहादीन् मूढस्तद्वद् विचेष्टते ॥५९॥
न च वयं ज्ञानकर्मणोः सर्वत्रैव समुच्चयं प्रत्याचक्ष्महे।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

एवं देहादौ मिथ्याभिमानवत एव प्रवृत्तिर्नाभिमानशून्यस्येत्युक्तम्। तत्र, मिथ्याभिमानात् प्रवृत्तिं दृष्टान्तेन दर्शयति–तस्यार्थस्येति। मृत्स्नेभके प्रशस्तमृदा निर्मितहस्तिनि।।५९।।

एवं तावत् 'सन्निपत्य न च ज्ञानमि'त्यादिना ज्ञानकर्मणोस्समुच्चयः निराकृतः। तदेतदयुक्तम्–'यदेव विद्यया करोति' 'ज्ञात्वा कर्माणि कुर्वीते'त्यादिवचनविरोधादित्याशङ्क्याह–न च वयमिति। यत्र ज्ञानकर्मणोः

निवृत्ति होने से निवृत्ति करने वाला अनिवृत्त साक्षी देह इन्द्रियादि को भी केवल देखने वाला होने से स्थूल व सूक्ष्म शरीरों को स्वयं का न समझने के कारण उनकी क्रियाओं का कर्ता भोक्ता अपने को नहीं मानता।।५८।। जैसे 'मैं ब्राह्मण हूँ' निश्चय ही ब्राह्मणोचित कर्म में अधिकार देता है, 'मैं क्षत्रियादि नहीं'—केवल इतने निश्चय से उन कर्मों में अधिकार नहीं मिल जाता, वैसे ही 'मैं कर्ता हूँ' यह निश्चय ही कर्म करने में अधिकारी बनाता है, 'मैं कर्ता नहीं' यह निश्चय कर्म में अधिकारी नहीं बनाता, कर्मत्याग में ही अधिकारी बनाता है। आत्मज्ञानी अपनी व्यापकता व तृप्ति के कारण क्रिया को असम्भव जानने से, एवं 'मैं कर्ता हूँ' इस सामान्य निश्चय के भी न होने से, कुछ करे यह सम्भव नहीं। शास्त्र तो करने योग्य कर्मों का उन्हीं के लिये उपदेश देता है जिन्हें 'मैं कर्ता हूँ' आदि निश्चय है। ये निश्चय होवें, इसमें शास्त्र का तात्पर्य नहीं; प्रत्युत इसी में उसका तात्पर्य है कि ये निश्चय निवृत्त हों। अतः आत्मविज्ञानी को शास्त्र या तदुक्त कर्म भी कर्ता नहीं बना सकते। इस तात्पर्य की स्पष्टता के लिये उदाहरण देते हैं—**जैसे मिट्टी के पुतले को वास्तविक हाथी समझकर बच्चा भागता है वैसे ही 'मैं देहादि हूँ' ऐसा समझकर वास्तविकता को न समझता हुआ व्यक्ति कर्म करता और उसका फल भोगता रहता है।।**५९।।

समग्र भेद का निवर्तक आत्मज्ञान भेदरूप कर्म के साथ बना रहे यह असम्भव है, यह बताया। इससे अतिरिक्त स्थलों में भी ज्ञान व कर्म साथ नहीं रह सकते, यह

यत्र प्रयोज्यप्रयोजकभावो ज्ञानकर्मणोः, तत्र नास्मत्पित्रापि शक्यते निवारयितुम्! तत्र विभागप्रदर्शनाय उदाहरणं प्रदर्श्यते–

स्थाणुं चोरधियाऽऽलाय भीतो यद्वत्पलायते।
बुद्ध्यादिभिस्तथाऽऽत्मानं भ्रान्तोऽध्यारोप्य[1] चेष्टते ॥६०॥

एवं यत्र यत्र ज्ञानकर्मणोः प्रयोज्यप्रयोजकभावः, तत्र सर्वत्रायं न्यायः। यत्र तु न समकालं, नापि क्रमेणोपपद्यते समुच्चयः, स विषय

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

प्रयोज्यप्रयोजकभावो निमित्तनैमित्तिकभावस्तत्र न केनापि तयोः समुच्चयो वारयितुं शक्यत इत्यर्थ। कुत्र तर्हि ज्ञानकर्मणोः प्रयोज्यप्रयोजकभावः, कुत्रासौ नास्तीति? अत आह–तत्र विभागेति। यथा चोरधिया स्थाणुमालाय गृहीत्वा पलायत एवं बुद्ध्यादिरूपेणात्मानं गृहीत्वा कर्म करोतीति। तेन तत्र कर्मप्रवृत्ति-निमित्तत्वाज्ज्ञानं कर्माङ्गमिति भावः।।६०।।

'यदेव विद्यया करोति' 'ज्ञात्वा कर्माणि कुर्वीते' त्यादावप्ययमेव न्याय इत्यतिदिशति–एवमिति। आत्मज्ञानस्य पुनः कर्मप्रवृत्तौ प्रयोज्यप्रयोजक-भावाभावान्न तेन समुच्चय इति सदृष्टान्तमाह–यत्र त्विति।।६१।।

हमारा तात्पर्य नहीं। जहाँ कर्म का निमित्त ज्ञान है—और अवश्य ही वह ज्ञान आत्मज्ञान नहीं हो सकता—वहाँ तो कोई भी दोनों का साथ होना नकार नहीं सकता। ज्ञान के कारण होने वाले कर्म कहाँ होते हैं व कहाँ नहीं, इसे समझाने के लिये कहते हैं—**जैसे ठूँठ को देखकर 'यह चोर है' ऐसे निश्चय वाला डरा हुआ भागता है वैसे ही अकर्ता आदि स्वरूप व्यापक स्वयं को भ्रमवश 'मैं देहादि हूँ' ऐसा समझने वाला अविवेकी कर्म करता है।**।६०।। यहाँ चोर-ज्ञान के कारण ही भागना-कर्म है अतः भागते हुए भी 'यह चोर है' यह ज्ञान बना रहे इसमें विरोध नहीं। इस प्रकार की कारण-कार्यता जहाँ हो वहाँ कर्म व ज्ञान का साथ होता है।

अब उस परिस्थिति को बताते हैं जिसमें न एक साथ और न क्रम से ज्ञान व कर्म

---

१. बुद्ध्यादिभिस्तथात्मानमध्यारोप्य—आत्मानं बुद्ध्याद्यभेदेन ज्ञात्वा। 'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्' इत्यभेदे तृतीयेति भावः।

उच्यते–

स्थाणोः सतत्त्वविज्ञानं यथा नाङ्गं पलायने।
आत्मनस्तत्त्वविज्ञानं तद्वन्नाङ्गं क्रियाविधौ ॥६१॥

यस्माद् गुणस्यैतत्स्वाभाव्यम्–

यद्धि यस्यानुरोधेन स्वभावमनुवर्तते।
तत्तस्य गुणभूतं स्यान्न प्रधानाद् गुणो यतः ॥६२॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

प्रधानत्वेनाभिमतकर्मनिवर्तकत्वादपि नात्मज्ञानं कर्माङ्गमित्याह–यस्माद् गुणस्येति। प्रधानमत्तीति प्रधानात्। यत्प्रधानविरोधि न

रह सकते हैं—**जैसे 'यह ठूँठ है' यह ठूँठ का वास्तविक ज्ञान भागना आदि क्रिया का अंग नहीं वैसे ही आत्मा का अकर्ता आदि वास्तविक ज्ञान कर्म-प्रवृत्ति का अंग नहीं।।६१।।** भ्रम ज्ञान अवश्य क्रिया-प्रवर्तक या प्रमा ज्ञान अवश्य क्रिया में अप्रवर्तक होगा, यह तात्पर्य नहीं है। सर्प को रस्सी जानना क्रिया-प्रवर्तक नहीं भी है और सर्प को सर्प जानना क्रिया-प्रवर्तक है भी। तात्पर्य इतना ही है कि कुछ स्थलों पर ज्ञान क्रियाफलक है व अन्यत्र नहीं। मुख्य बात यही है कि आत्मा का वास्तविक ज्ञान क्रियाजनक नहीं। क्रिया का अप्रवर्तक ज्ञान क्रिया के साथ रहे इसका प्रसंग ही नहीं। ज्ञान का असाधारण कारण क्रिया न होने से क्रम से भी उनका साथ नहीं बनता। क्रिया का कारण इच्छा के माध्यम से ज्ञान है। अतः किसी प्रवर्तक ज्ञान के होने पर ही क्रिया होगी। अप्रवर्तक ज्ञान से, वह चाहे भ्रम हो या प्रमा, क्रिया होगी ही नहीं। इसलिये उसका क्रिया के साथ रहने का प्रश्न ही नहीं। यद्यपि स्वप्रवर्त्य-क्रिया-साहित्य असम्भाव्य होने पर भी स्वाऽप्रवर्त्य-क्रिया-साहित्य सम्भव हो सकता है, तथापि सकारण क्रिया-निवर्तक ज्ञान का कैसी भी क्रिया से साहित्य असम्भव ही है यह समझना चाहिये। अर्थात् यद्यपि लोक में हो सकता है कि क्रिया के अप्रवर्तक ज्ञान के साथ ज्ञानान्तर से प्रवृत्त क्रिया रह भी जाये तथापि जो ज्ञान क्रिया मात्र व उसके कारण का भी निवर्तक है, उसके साथ कोई भी क्रिया रह सके यह सम्भव नहीं। अतएव परमार्थ आत्मज्ञान का ही नैष्कर्म्य से समुच्चय है, उस ज्ञान के बिना सर्वकर्मनिवृत्ति अशक्य है।

आत्मज्ञान कर्म का अंग नहीं इसका मुख्य कारण है कि वह कर्म को निवृत्त करने वाला है—**जो जिसके होने में सहायक होता है वही उसका अंग होता है न कि**

यस्मात्-[1]

कर्मप्रकरणाकाङ्क्षि ज्ञानं कर्मगुणो भवेत्।
यद्धि प्रकरणे यस्य तत्तदङ्गं प्रचक्षते ॥६३॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

तत्तदङ्गमित्यर्थः।।६२।।

विनियोजकप्रकरणादिसद्भावात् कर्मस्वरूपादिज्ञानस्य तदङ्गित्वमुचितम्। आत्मज्ञानस्य पुनः प्रकरणाद्यभावान्न तदङ्गत्वमित्यभिप्रेत्याह- यस्मादिति।।६३-६४।।

वह जो उसे निगल जाये अर्थात् समाप्त कर दे।।६२।।

वेद में कहीं-कहीं (यथा छां. १.१.१०) कहा है कि जानकर करने से कर्म में अधिक शक्ति होती है। किन्तु वहाँ या तो 'जानने' का अर्थ उपासना है और या कहीं पर अर्थ है कि कर्म कैसे करें आदि समझकर कर्म करने चाहिये, क्योंकि ऐसा करना बिना समझे कर्म करने से बेहतर है। उपासना व कर्म का सहभाव तो श्रुतिसिद्ध होने से स्वीकृत ही है तथा उपासना मानस कर्म ही होने से किसी विरोध की शंका भी नहीं। कर्मादि-विषयक ज्ञान भी कर्मोपयोगी एवं च कर्मांग हो, इसमें भी कोई आपत्ति नहीं— **जो कर्मादि-विषयक ज्ञान कर्म के विषय में ही सार्थक है, कर्म के प्रकरण में ही जिसका उल्लेख है, वह कर्म का अंग हो यह उचित है, क्योंकि जो जिसके प्रकरण में उल्लिखित होता है वह उसका अंग कहा जाता है।।६३।।** कौन किसका अंग है इसके निर्णायक छह प्रमाण मीमांसकों ने निर्णीत किये हैं जिनमें प्रकरण भी परिगणित है। दोनों पदार्थ जब साकांक्ष होते हैं तब उनका आपसी अंगाङ्गिभाव मालूम पड़ जाता है। इसका प्रसिद्ध दृष्टान्त है—दर्शपूर्णमास-विधायक वाक्य के प्रसंग में प्रयाज आदि पाँच याग विहित हैं। प्रश्न उठता है कि क्या वे दर्शपूर्णमास के अंग हैं या नहीं? उत्तर है कि वे अवश्य उसके अंग हैं। कारण है कि दर्शपूर्णमास को यह आकांक्षा है कि वह किस तरह किया जाये और प्रयाजादि को आकांक्षा है कि वे क्यों किये जायें।

---

१. 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां षण्णामेव प्रमाणानां विनियोगप्रमापकता-स्वीकारात्तत्र श्रुत्यादीनामसंभवादेव मनसि निरासं सिद्धवत्कृत्य प्रकरणसंभवमाशङ्क्य निराकुर्वन् श्लोकमवतारयति—यस्मादिति'। (सारार्थः)

स्वरूपलाभमात्रेण[1] यत्त्वविद्यां निहन्ति नः।
न तदङ्गं प्रधानं वा ज्ञानं स्यात् कर्मणः क्वचित् ॥६४॥
समुच्चयपक्षवादिनापि अवश्यमेतदभ्युपगन्तव्यम्। यस्मात्-
अज्ञानमनिराकुर्वज्ज्ञानमेव न सिध्यति।
विपन्नकारकग्रामं ज्ञानं कर्म न ढौकते ॥६५॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

आत्मज्ञानस्य कर्मणा समुच्चयमभ्युपगच्छतापि तस्य प्रमाणज्ञानत्वात् स्वविषयाविद्यानिवर्तकत्वं बलादभ्युपेयम्। तथा सति न स्वाभिमत-समुच्चयसिद्धिरित्याह—समुच्चयेति। **भवत्वेवं, ततः किमित्यत आह**—विपन्नेति। **कारकग्रामाभावे कर्मण एवाभावात् ज्ञानं कर्म न स्पृशतीत्यर्थः।।६५।।**

अतः दोनों का सम्बन्ध होने पर दोनों की आकांक्षा समाप्त हो जाती है जिससे निर्णीत होता है कि प्रयाजादि द्वारा दर्शपूर्णमास किया जाये। अतः प्रयाजादि दर्शपूर्णमास के अंग हैं। यह अंगता प्रकरण नामक प्रमाण से ही सिद्ध है। यह पूर्वमीमांसा में (३.३.४.१०) विस्तार से वर्णित है।

अपने वास्तविक स्वरूप को समझ लेना रूप अविद्यानाश करने वाला औपनिषद ज्ञान कर्म-प्रकरण में उल्लिखित न होने से उसका अंग नहीं तथा उस ज्ञान के प्रकरण में कर्म का उल्लेख न होने से कर्म भी ज्ञान का अंग नहीं।।६४।। स्वयं को न जानना रूप अविद्या का नाश यही है कि अपने को जान लेना।

जिसे जान लिया जाता है उसके विषय में अज्ञान समाप्त हो जाता है यह तो सबको स्वीकार ही है। जो वादी आत्मज्ञान को कर्म के साथ रहने वाला मानना चाहता है वह भी ज्ञान-अज्ञान के विरोध को नकार नहीं सकता—**क्योंकि अज्ञान को हटाये बिना ज्ञान नहीं हो सकता इसलिये अज्ञानरूप क्रिया-साधनों का नाशक ज्ञान क्रिया का सहचर हो यह दुःसम्भाव्य है।।६५।।** क्रिया ही नहीं, उसके उपाय भी भेदात्मक होने से अज्ञान ही हैं। ज्ञान से जब क्रियाजनक कारक निवृत्त हो गये तब क्रिया क्योंकर विद्यमान हो पायेगी?

---

१. 'स्वरूपलाभमात्रेणेति धान्येन धनवानितिवदभेदे तृतीया। तथा चाविद्यानिवृत्तिरेव ज्ञानस्य स्वरूपलाभः। यद्वा, लब्धात्मलाभमेव ज्ञानं प्रौढप्रकाशस्तम इवाज्ञानं हन्ति। न तत्र सहकार्यन्तरं व्यापारान्तरं वापेक्षते।।' (सारार्थः)।

इदं चापरं कारणं ज्ञानकर्मणोः समुच्चयनिबर्हि-
हेतुस्वरूपकार्याणि प्रकाशतमसोरिव।
विरोधीनि ततो नास्ति साङ्गत्यं ज्ञानकर्मणोः ॥६६॥

एवमुपसंहृते, केचित् स्वसंप्रदायबलावष्टम्भादाहुः यदेतद् वेदान्तवाक्यात् 'अहं ब्रह्म' इति विज्ञानं समुत्पद्यते तत्रैव स्वोत्पत्तिमात्रेण अज्ञानं निरस्यति। किं तर्हि, अहन्यहनि द्राघीयसा कालेनोपासीनस्य सतो

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

हेतुस्वरूपकार्याणीति **तज्ज्ञानस्य** हेतुः **प्रमाणम्,** स्वरूपं **च परमार्थप्रकाशकत्वं,** कार्यम**विद्यानिवृत्तिः। कर्मणो** हेतुर**विद्यारागादिः।** स्वरूपं **प्रकाशानात्मकत्वं।** कार्यम**ुत्पत्त्याप्त्यादीति परस्परविरोधीनि।।६६।।**

पूर्वं ज्ञानस्य स्वोत्पत्तिमात्रेणाज्ञाननिवर्तकत्वात् कर्मभिः समुच्चयोऽनुपपन्न इत्युक्तम्। अधुना-तदेतदयुक्तं, वाक्यजन्योत्तरकालीनभावनोत्कर्षात् भावनाजन्यसाक्षात्कारलक्षणज्ञानान्तरेण वा अज्ञानस्य निवृत्तेर्ज्ञानाभ्यासदशायां ज्ञानस्य कर्मणा समुच्चयोपपत्तेरित्येकदेशिनां मतमुत्थाप्य निराकरोति- एवमित्यादिना। **'देवो भूत्वे'ति भावनोपचयाद् देवभावं साक्षात्कृत्य, पतिते देहे**

आत्मज्ञान और कर्म साथ नहीं रहते इसमें एक और कारण है—**ज्ञान व कर्म के कारण, स्वरूप और कार्य तीनों ही एक-दूसरे के विरोधी हैं, इसलिये प्रकाश और अँधेरे की तरह दोनों साथ रहें यह सम्भव नहीं।।६६।।** ज्ञान का कारण है प्रमाण और कर्म का है अयथार्थ ज्ञान। आत्मा को कर्तादि माने बिना कर्म होगा नहीं और यह मानना ही गलत समझ है। प्रमाण व अयथार्थ ज्ञान परस्पर विरुद्ध हैं ही। ज्ञान का स्वरूप चेतन है व कर्म का जड। ज्ञान का कार्य अविद्या-हानि है व कर्म का उत्पत्त्यादिचतुर्विध है। एवं च तीनों तरह से ये आपस में विरोधी हैं।

इस प्रकार अनुभव व युक्ति से सिद्ध होने पर भी ज्ञान-कर्म के विरोध को न स्वीकार कर प्रमाण तथा युक्ति से रहित तथा केवल अन्ध-परम्परारूप अपने सम्प्रदाय के बल पर ही ब्रह्मदत्तादि कुछ विचारक कहते हैं कि जो यह वेदान्त-वाक्यों से 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है वह केवल उत्पन्न होने से ही अज्ञान को समाप्त नहीं कर देता, किन्तु लम्बे समय तक रोज वैसी उपासना करने पर जो इकट्ठे हुए वैसे संस्कार

भावनोपचयात्, निःशेषमज्ञानम् अपगच्छति। 'देवो भूत्वा देवानप्येति' (बृ. ४.१.२) इति श्रुतेः।

अपरे तु ब्रुवते वेदान्तवाक्यजनितम् 'अहं ब्रह्म' इति विज्ञानं संसर्गात्मकत्वात्, आत्मवस्तुयाथात्म्यावगाह्येव न भवति। किं तर्हि, एतदेव गङ्गास्रोतोवत् सततमभ्यस्यतोऽन्यदेव अवाक्यार्थात्मकं

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

उपास्यदेवताभावं प्राप्नोतीति यावत्।

विज्ञाय **शास्त्रशब्देन संसृष्टरूपं ब्रह्मावगम्य** प्रज्ञां **साक्षात्कारलक्षणां**

हैं उनसे अज्ञान नष्ट होता है। इस विषय में 'भावना से देवता का साक्षात्कार कर शरीर छूटने पर भावित देवभाव को पा लेता है' (बृ. ४.१.२) यह श्रुति प्रमाण है। इस मत में उपनिषत्काण्ड भी कर्मकाण्ड की तरह विधिप्रधान है, अन्तर इतना है कि यहाँ कर्मों का नहीं, प्रसंख्यान का—भावना या उपासना का विधान है। अतः 'आत्मेत्येवोपासीत' (बृ. १.४.७) अर्थात् 'आत्मा ऐसी ही उपासना करनी चाहिये' आदि वाक्य ही प्रधान हैं व तत्त्वमस्यादि गौण, क्योंकि वे केवल उपास्योपस्थापक हैं। अतः अभ्यास या प्रसंख्यान मोक्ष का हेतु है, ज्ञान नहीं। प्रसंख्यान को आगे (३.९० सम्बन्धोक्ति में) बुद्ध्याग्रेडन रूप कहा जायेगा। वह क्रियाविशेष ही है। एवं च प्रसंख्यान रूप कर्म को मोक्षकारण मानना इस मत की विशेषता है। अतः बाह्यकर्मों का साहचर्य प्रसंख्यान कही जाने वाली विद्या से होना निश्चित है क्योंकि उपासना व कर्म का विरोध न होने से उनका परस्पर सामंजस्य सम्भव भी है और शास्त्र द्वारा विहित भी।

कुछ अन्य विचारकों का तो कहना है कि वेदान्त-वाक्यों से जनित 'मैं ब्रह्म हूँ' ज्ञान अन्य सभी शाब्दज्ञानों की तरह 'मैं' व 'ब्रह्म' के किसी सम्बन्ध का—इन दोनों के सम्बद्ध स्वरूप का—ही ज्ञान करा सकता है अतः वह अखण्ड आत्मा की यथार्थता को विषय करता ही नहीं। किन्तु इसी ज्ञान को यदि गंगा के प्रवाह की तरह निरन्तर अभ्यस्त करें तो वाक्य के अर्थ से भिन्न स्वरूप वाला एक दूसरा ही अनुभव उत्पन्न होता है जो समग्र अज्ञान का निवर्तक होता है। इसमें 'ब्राह्मण को चाहिये कि पहले शाब्द ज्ञान पाकर फिर साक्षात्कारात्मक ज्ञान की प्राप्ति करे' (बृ. ४.४.२१) श्रुति प्रमाण है। पूर्व मत से इस मत में वैशिष्ट्य यह है कि मोक्ष

विज्ञानान्तरम् उत्पद्यते। तदेवाशेषाज्ञानतिमिरोत्सारि, 'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः' (बृ. ४.४.२०) इति श्रुतेरिति।

अस्य पक्षद्वयस्य निवृत्तये इदमभिधीयते–

सकृत्प्रवृत्त्या मृद्नाति क्रियाकारकरूपभृत्।
अज्ञानमागमज्ञानं साङ्गत्यं नास्त्यतोऽनयोः ॥६७॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

संसर्गात्मिकां[1] कुर्वीत **सन्तताभ्यासबलात् साधयेदिति यावदिति पूर्वपक्षिणोऽभिप्रेत्य व्याख्यानम्।**

दूषयति–सकृदिति। **भवदभिमताया वासनायाः चित्तैकाग्र्यहेतुतया विक्षेपलक्षणप्रतिबन्धनिरासेन ज्ञानोत्पत्तावेवोपक्षीणत्वाद् उत्पन्नमात्र-**

का हेतु ज्ञान ही है अतः यह सिद्धान्त के कुछ नज़दीक है। किन्तु ज्ञान प्रमाण से न होकर प्रसंख्यान या आवृत्ति से होता है यह विलक्षण मान्यता इस विचार को सर्वथा असंगत बना देती है। सर्वत्र प्रमा निर्भर करती है प्रमाण व प्रमेय पर अतः यहाँ भी ऐसा ही होना उचित है। निदिध्यासन तो ज्ञानोत्पत्ति में उपयोगी होने से ज्ञान के पूर्व ही सम्भव है जब कि यहाँ ज्ञानानन्तर प्रसंख्यान स्वीकार्य है। साथ ही निदिध्यासन श्रवण का उपकारी बनकर ज्ञानजनन में उपयोगी है अतः ज्ञान श्रवण से ही होने से शास्त्ररूप प्रमाण से ही जन्य है। इस तरह सिद्धान्त से काफी अन्तर होने पर भी ज्ञान से मोक्ष मानने के कारण पूर्वोक्त मत से यह विलक्षण है। सम्भवतः मण्डनमिश्र के सिद्धान्त को ही यहाँ द्वितीय मत के रूप में रखा है। अन्यत्र वर्णित मण्डनमत यही है। इस पक्ष में भी उपनिषदों को उपासनाविधिप्रधान तो माना ही जाता है। ऐसे ही ज्ञान के, शाब्द ज्ञान के, अनन्तर उपासना करना भी इस सिद्धान्त में स्वीकृत है। अतः शाब्दज्ञान व कर्म का समुच्चय इस मत के अवलम्बियों को इष्ट होना ही है।

उक्त दोनों पक्षों के निराकरणार्थ यह कहा जाता है—**शास्त्रजन्य ज्ञान एक बार उत्पन्न होते ही क्रिया के साधनरूप अज्ञान का उपमर्दन कर देता है, अतः ज्ञान**

---

१. असंसर्गात्मिकाम् इति चन्द्रिकानुसारी।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

भागमिकं सकार्यमज्ञानं तदैव निवर्तयतीति न ज्ञानकर्मणोस्समुच्चयावसरः सम्भवतीति भावः।।६७।।

नानात्वशून्यमद्वयं ब्रह्मेत्युपगम्य तज्ज्ञानस्य कर्मणा समुच्चयो निराकृतः।

और कर्म का कोई साथ नहीं॥६७॥ निःशंक ज्ञान का ही कर्म से अत्यन्त विरोध है, साधक के लिये तो कर्तृत्वाध्यास दृढतर न हो इसलिये प्रवृत्ति कर्म का निषेध किया जाता है, श्रवणादि कर्म तो विहित रहते ही हैं। निःशंक ज्ञान मनन-निदिध्यासन की सहायता से हो सकता है। प्राप्त शंकाओं की निवृत्ति के बिना असन्दिग्ध ज्ञान सम्भव नहीं और मन की एकाग्रता के बिना भी दृढ ज्ञान हो नहीं सकता। इसलिये मनन-निदिध्यासन से सहकृत श्रवण ही ऐसे ज्ञान को उत्पन्न करने के लिये पर्याप्त है जो अज्ञान का नाश कर दे। फलतः ज्ञानानन्तरभावी भावनादि निरुपयोग है। प्रमाणात्मक न होने से भावनादि प्रमा के असाधारण हेतु हो नहीं सकते। यद्यपि ज्ञान श्रवण से ही उसे हो जाता है जिसे पदार्थों का बोध है, तथापि विविध भ्रमादि उसे ढाँक लेते हैं जिन्हें मननादि निवृत्तमात्र करते हैं। ज्ञान मननादि उत्पन्न नहीं करते। श्रुतियों के अर्थ को तो हठात् स्वपक्षानुसारी बनाया गया है, उनमें भावनादि की विधि न शब्दतः है न अर्थतः। वेदान्तों में विधि कहीं प्रधान नहीं है, तात्त्विक परमात्मा ही प्रधान है। सूत्रभाष्य में (३.२.२०) आचार्यों ने कहा है 'द्रष्टव्यादिशब्दा अपि परविद्याधिकारपठितास्तत्त्वाभिमुखीकरणप्रधाना न तत्त्वबोधविधिप्रधाना भवन्ति।' निश्चय के साधनों की ही विधि की जा सकने के कारण उन्हीं का विधान है, अविधातव्य ज्ञानात्मक होने से प्रज्ञा अर्थात् निश्चय का विधान नहीं है। अतः जैसे बाह्य कर्म से, वैसे आन्तर कर्म से ज्ञान का साहचर्य अनुपपन्न है। ब्रह्मदत्तादि मत तो क्रियाफल मोक्ष मानने से कृतकत्वानित्यत्वव्याप्तिवश अनित्यमोक्षवाद में पर्यवसित हो श्रुति-युक्ति विरुद्ध स्पष्ट ही है। मण्डनादि मत अप्रमाण को प्रमा का असाधारण कारण मानने से असंगत है इसमें कोई सन्देह नहीं। एवं च पूर्वोक्त मतद्वय हेय हैं।

इस प्रकार एक ही व्यापक ब्रह्म है ऐसा मानकर उसका ज्ञान और कोई कर्म साथ-साथ नहीं रह सकते, यह समझाया। अब ब्रह्म को द्वैताद्वैतात्मक मानने पर ज्ञान-कर्मसमुच्चय सम्भव नहीं यह बताते हैं। इस मत के अवलम्बियों का कथन है कि वृक्ष एक वस्तु है किन्तु अनेक शाखाओं वाला होने से अनेकात्मक भी है। समुद्र-तरंगादि, मिट्टी घटादि इत्यादि दृष्टान्त भी यह सिद्ध करते हैं कि वस्तु द्वैत-अद्वैतात्मक हो सकती

एवं तावदनानात्वे ब्रह्मणि ज्ञानकर्मणोः समुच्चयो निराकृतः। अथाधुना पक्षान्तराभ्युपगमेनापि प्रत्यवस्थाने पूर्ववदनाश्वासो यथा तथा अभिधीयते–

अनुत्सारितनानात्वं ब्रह्म यस्यापि वादिनः।
तन्मतेनापि दुःसाध्यो ज्ञानकर्मसमुच्चयः ॥६८॥

तस्य विभागोक्तिर्दूषणविभागप्रज्ञप्तये–

ब्रह्माऽऽत्मा वा भवेत्तस्य यदि वानात्मरूपकम्।
आत्मानाप्तिर्भवेन्मोहाद् इतरस्याप्यनात्मनः[1] ॥६९॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

सम्प्रति द्वैताद्वैतात्मकं ब्रह्मेत्युपगमेऽपि न सम्भवतीत्याह–एवन्तावदिति।।६८।।

भेदाभेदपक्षे जीवपरमात्मनोस्संसारदशायामप्यभेदं केचिदिच्छन्ति। केचित्तु संसारदशायां भेद एव, मुक्तिदशायामभेदः। तत्र आद्यकल्पं दूषयति– आत्मेति। **द्वितीयं दूषयति–**इतरस्येति। इतरस्य **स्वतो व्यतिरिक्तस्य**

है। ब्रह्म भी इसी तरह भेद-अभेदात्मक है जिसका फल है कि एकत्वांश से तो ज्ञान से मोक्ष का व्यवहार हो जायेगा और नानात्वांश से कर्मव्यवहार हो जायेगा। सूत्रभाष्य में (२.१.१४) यही इस मत का संक्षेप दिखाया गया है। बृहदारण्यक भाष्य में (५.१) भी इस द्वैताद्वैतात्मक-ब्रह्मवाद का वर्णन है। इस मत में द्वैत व अद्वैत दोनों परमार्थतः सत्य हैं, यही कर्म व ज्ञान दोनों के सामंजस्य के लिये अवलम्बन है। इस पक्ष का खण्डन करने के लिये पहले प्रतिज्ञा करते हैं—**सामान्य-विशेष रूप से आत्मा भिन्न व अभिन्न दोनों है, ब्रह्म नानात्व या भेद से सर्वथा रहित नहीं है, ऐसा मानने वाले के पक्ष में भी ज्ञानकर्मसमुच्चय असिद्ध है**॥६८॥ प्रकृत सिद्धान्त के अनुयायियों में कुछ का कहना है कि संसार-दशा में भी जीव-ब्रह्म का अभेद है, जब कि कुछ मानते हैं, इनका संसार-दशा में भेद और मोक्ष दशा में अभेद है। क्रमशः दोनों पक्षों में कर्म की मोक्ष के लिये अनुपयोगिता दिखाते हैं—**यदि परमात्मा जीवात्मा से अभिन्न ही है तो उसकी अप्राप्ति केवल भ्रम से होने के कारण प्राप्ति केवल ज्ञान से होगी, कर्म की आवश्यकता नहीं। यदि संसार काल में परमात्मा जीव**

१. अनात्मनः इति भावप्रधानो निर्देशः। अनात्मत्वादिति भावः।

तत्र यदि तावद्वास्तवेनैव वृत्तेन ब्रह्म प्राप्तम्, आत्मस्वाभाव्यात्, केवलमासुरमोहापिधानमात्रमेव अनाप्तिनिमित्तम्, तस्मिन् पक्षे–

मोहापिधानभङ्गाय नैव कर्माणि कारणम्।
ज्ञानेनैव फलावाप्तेस्तत्र कर्म निरर्थकम् ॥७०॥

अनात्मरूपके तु ब्रह्मणि न कर्म साधनभावं प्रतिपद्यते नापि ज्ञानं

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

ब्रह्मणोऽनात्मत्वाद् अनाप्तिरेव, **न तु कदाचिदप्याप्तिः स्यात् कर्मणा ज्ञानेन वेत्यर्थः।।६९।।**

अस्त्वभेदपक्षे मोहादनाप्तिः, तथापि प्रकृते किमायातमित्याह–तत्रेति। **असुरसम्बन्धी मोह** आसुरः **आत्मानवबोधः। परिच्छिन्नात्माभिमानलक्षणश्च। 'असुराणां ह्येषोपनिषदि'ति श्रुतेः।।७०।।**

एवं प्रथमविकल्पदूषणं[1] प्रपञ्चयति–अनात्मेति। **स्वतोऽन्यत्वेऽ-**

से अलग ही है तब निश्चित है कि संसार-दशा में कभी दोनों का अभेद होना नहीं और अतएव अभेदलाभार्थ कर्म भी व्यर्थ है॥६९॥ जो हो सकता है उसे ही कर्म कर सकता है। सुनिपुण कलाकार भी गोल त्रिकोण कैसे बनाये? संसार-दशा में भेद रहना ही है तो कर्म अभेद ला नहीं सकता। प्रलय में तो कर्म की अपेक्षा के बिना ही अभेद होना है अतः उस प्रयोजन से भी कर्म सार्थक नहीं। यदि कर्म से संसार में अभेद हो जाये तो उक्त मत की सिद्धान्त-हानि होगी, यह अभिप्राय है।

जिस पक्ष में ब्रह्म वास्तव में जीव का आत्मरूप है अर्थात् उससे अभिन्न ही है, उस पक्ष में तो केवल दुःखद अज्ञान से ही जीव-ब्रह्म का अन्तर है जो ज्ञान से ही समाप्त होगा। उस पक्ष में—**अज्ञान रूप आवरण को हटाने में कर्म कारण नहीं, उस कार्य में तो ज्ञान से फलप्राप्ति होने से कर्म किसी प्रयोजन वाला नहीं**॥७०॥

जीव से परमात्मा को भिन्न मानने पर न कर्म ही (अभेद रूप मोक्ष का) साधन है और न कर्म से जुड़ा या न जुड़ा ज्ञान ही साधन है, क्योंकि स्वयं जो मुमुक्षु साधक है वह स्वतः ही, स्वरसतः अर्थात् स्वभावतः ही, ब्रह्म से भिन्न है और ब्रह्म भी साधक से सर्वथा भिन्न ही है (जिससे उनका अद्वैत सम्भावित नहीं)। ऐसी स्थिति में—**कोई**

१. प्रथमेत्यत्र द्वितीयेति वक्तव्यम्।

कर्मसमुच्चितमसमुच्चितं वा, यस्माद् अन्यत्वं[1] स्वत एव साधकस्य, ब्रह्मणोऽपि अन्यत्वं स्वत एव सिद्धम्। तत्रैवम्–

अन्यस्यान्यात्मताप्राप्तौ न क्वचिद्धेतुसंभवः।
तस्मिन् सत्यपि नो नष्टः परात्मानं प्रपद्यते ॥७१॥
अपरस्मिंस्तु पक्षे विधिः।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

प्यनन्यत्वसिद्धये साधनापेक्षेत्यत आह–तत्रैवम् इति। ननु ज्ञानं कर्म च हेतुरस्तीत्यत आह–तस्मिन्निति। अन्यस्मिन् स्थिते स्वभावविरोधादेव नान्यात्मता-प्राप्तिरित्यर्थः।।७१।।

अस्तु तस्यात्मनात्मरूपं[2] ब्रह्म संसारदशायामपि इत्याशङ्क्य, तस्मिन्नपि पक्षे 'देवो भूत्वा देवानप्येती'ति न्यायेनाहं ब्रह्मास्मीत्युपासनयैव तत्प्राप्तेस्तद्विधिरेव

अपने स्वरूप से विरुद्ध स्वरूप वाला हो जाये यह किसी साधन से नहीं हो सकता। यदि हो भी जाये तो दूसरे स्वरूप का होने पर पूर्व स्वरूप वाला तो नष्ट हो चुकेगा, अतः नष्ट हो चुककर वह अन्य स्वरूप प्राप्त करे यह असम्भव ही है क्योंकि जो है ही नहीं, नष्ट हो चुका, वह अन्य स्वरूप को कैसे पा सकता है?॥७१॥ सम्बन्धोक्ति में जीव का ब्रह्म से और ब्रह्म का जीव से—यों दोनों तरह से जो भेद कहा गया है, वह भेदाभेद की सम्भावना को हटाने के लिये है। वस्तु वस्त्वन्तर नहीं बन सकती इसका निपुणतर प्रतिपादन आचार्यों ने नान्यदन्यत्प्रकरण में उपदेशसाहस्री में किया है। सूतसंहिता में (४.३९.३०) भी

'रसविद्धमयः स्वर्णं यथा भवति सर्वदा।
केनचित्साधनेनैव तथा जीवः शिवो भवेत्॥'

आदि पूर्वपक्ष उठाकर इस प्रवाद का सयुक्ति खण्डन किया है। सार यही है कि असत्य—औपाधिक—भेद तो समाप्त हो सकता है पर सत्य भेद का समापन किसी तरह सम्भव नहीं।

---

१. अन्यस्येति चन्द्रिकायां पाठान्तरम्। 'ब्रह्मप्राप्तिसाधकस्य स्वत एव ब्रह्मणः सकाशादन्यस्य ब्रह्मणः प्राप्त्ययोगात् तत्प्राप्तये साधनोपादानायोगादित्यर्थः'।

२. 'अस्तु तर्ह्यात्माऽनात्मद्वयरूपं ब्रह्म संसारदशायामपीत्याशंक्याह' इति चन्द्रिका। अतोऽत्र 'तस्यात्मनात्मरूपम्' इति स्थाने 'तर्ह्यात्मानात्मरूपम्' इति भवेत्।

परमात्मानुकूलेन ज्ञानाभ्यासेन दुःखिनः।
द्वैतिनोऽपि विमुच्येरन् न परात्मविरोधिना ॥७२॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

कथञ्चिदभ्युपगन्तव्यः, न कर्मसिद्धिः, तस्य केवलभेदाश्रयत्वेन स्वाभ्युपगत-ब्रह्मरूपविरोधित्वादित्याह–अपरस्मिंस्त्विति। **यद्वा,** परस्य **वादिनोऽभिमतो य** आत्मा **द्वैताद्वैतरूपस्तद्विरोधिना केवलद्वैतज्ञानेन मुच्येरन्नित्यर्थः[1]। केचित्तु 'अपरस्मिंस्तु पक्षे विधिरि'ति भेदपक्ष एव वर्ण्यत इति वर्णयन्ति। तदयुक्तम्, तस्य 'आत्मरूपे[2] तु ब्रह्मणी'त्यादिनानन्तरमेव निरस्तत्वात्तस्यैव पुनरनुवृत्तौ 'तु'-शब्देन व्यावर्त्तनायोगात्, ज्ञानकर्मणोस्समुच्चितासमुच्चितयोर्मुक्तिहेतुत्वं त्वन्मते[3] निराकृत्यानन्तरमेव पुनस्तदङ्गीकारायोगाच्च। तस्मात्पूर्वोक्तमेव ग्राह्यम्।।७२।।**

अस्तु तर्हि प्रस्तुतदोषपरिहाराय केवलोऽभेद एवानेकरसेन ब्रह्मणेत्याशङ्क्य, तत्पक्षे न ज्ञानविधिर्नाऽपि कर्मविधिस्सम्भवतीत्याह–

यदि इस पक्षान्तर का अवलम्बन लें कि संसारदशा में भी परमात्मा व जीवात्मा का परस्पर भेद और अभेद दोनों हैं तो भी—**दुःखी द्वैती लोग अपनी परमात्मरूपता के अनुकूल वृत्ति के अभ्यास से ही दुःख से छूटेंगे, न कि उससे विरुद्ध आकार की वृत्ति के अभ्यास से (और न परात्मता के विरोधी कर्म से)**॥७२॥ यद्यपि परमेश्वर से भेद व अभेद दोनों वास्तविक माने जा रहे हैं तथापि दुःख तो 'मैं परमेश्वर नहीं' इस निश्चयवश ही है यह प्रस्तुत मतवादी को मानना होगा। अब 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसे ध्यान से तथाविधरूपता-प्राप्ति से दुःख-समाप्ति वह बता सकता है, कर्मों का उपयोग सिद्ध कर नहीं सकता क्योंकि वे तो अपने अनीश्वर भाव को और दृढ करते हैं। क्योंकि इस मत में 'मैं ब्रह्म हूँ' यह प्रमा नहीं है, कारण कि मैं देवदत्तादि भी सचमुच हूँ ही, इसलिये ज्ञानाभ्यास शब्द ध्यानपरक है। सर्वथापि, बाह्य कर्मों का समुच्चय मोक्षोपयोगी सिद्ध नहीं होता यह अभिप्राय है। भेद व अभेद दोनों वास्तविक होना असम्भव होने

---

१. चन्द्रिकाकारस्तु—'जीवे ब्रह्मदृष्टिप्रक्षेपेण यदुपासनं तदिह परमात्मानुकूलं ज्ञानं, तेन ज्ञानाभ्यासेन गंगास्रोतोवत् सततम् 'अहं ब्रह्मास्म्यहं ब्रह्मास्मी'ति विजातीयप्रत्ययानन्तरित-सजातीयप्रत्ययप्रवाहीकरणेन दुःखिनो द्वैतिनोऽपि प्रमुच्येरन्, न परमात्मविरोधिना जीवपरमात्मनोर्भेदसंसर्गपरित्यागपूर्वकम् 'अहमस्मि परं ब्रह्मे'ति वाक्यार्थविज्ञानेन विमुच्येरन्'—इति योजयति।

२. 'आत्मरूप' इत्यत्र 'अनात्मरूपके'—इति वाच्यम्।

३. तन्मते—इति स्यात्।

इतरस्मिंस्तु पक्षे विधेरेवानवकाशत्वम्। कथम्?
समस्तव्यस्तभूतस्य ब्रह्मण्येवावतिष्ठतः ।
ब्रूत कर्मणि को हेतुः सर्वानन्यत्वदर्शिनः ॥७३॥
सर्वकर्मनिमित्तसंभवासंभवाभ्यां सर्वकर्मसङ्करश्च प्राप्नोति। यस्मात्–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

इतरस्मिंस्त्विति। कर्मण्युपासनाख्ये मानसे बाह्ये चेति यावत्।।७३।।

किञ्चाभेदपक्षे विद्वान् ब्राह्मणश्शूद्र इतरश्च भवति, सर्वात्मत्वात्; ततश्च वर्णाश्रमादिविशेषनियमाभावान्नियते कर्मणि प्रवृत्तिर्नोपपद्यते इत्याह–सर्वकर्मेति।

से यह पक्ष सर्वथा हेय तो है ही, केवल समुच्चयवादी के अभ्युपगमों से ही उसका पक्ष कमज़ोर दिखाने के लिये उपासना से मोक्ष तुष्यतुन्याय से मानकर यहाँ विचार किया है।

और यदि अनेकात्मक ब्रह्म से अत्यन्त अभेद ही जीव का मानें, जीव और तादृश ब्रह्म में कोई भेद स्वीकार ही नहीं, तब तो बाह्य-आभ्यन्तर किसी भी कर्म का विधान सार्थक न होगा। ऐसा क्यों? यह बताते हैं—**समस्त व व्यस्तस्वरूप वाले (अर्थात् एकानेकात्मक या भेदाभेदात्मक) ब्रह्म स्वरूप में विद्यमान अतएव स्वयं को सबसे अभिन्न समझने वाले व्यक्ति के लिये कर्म का क्या प्रयोजन? बताओ! (अर्थात् कोई प्रयोजन नहीं)**।।७३।। सिद्धान्त में तो औपाधिक भेद से बन्धन और उससे छूटने के लिये क्रमशः कर्म, संन्यास व ज्ञान की उपपत्ति सुगम है किन्तु प्रकृत वादी औपाधिक तो कुछ मानना नहीं चाहता, यह वही मानता है जो सत्य है, चाहे वह भेद हो, चाहे अभेद, चाहे भेदाभेद; अतः इसके मत में वे परिहार सम्भव नहीं जो हमारे मत में प्रसिद्ध हैं। भेदादि त्रिविध सम्भावनाओं में भी विचार्यमाण पक्ष है ब्रह्म से अत्यन्त अभेद का। इस पक्ष में तो साधनामात्र का आनर्थक्य प्राप्त होता है यह अभिप्राय है। ब्रह्म की समस्त-व्यस्तात्मकता का उपन्यास अगले दोष के उद्भावन की भूमिका के रूप में है।

प्रकृत पक्ष में दोषोद्भावन करते हुए कहते हैं कि यदि संसार-दशा में ही सब वस्तुतः सर्वात्मक है तो सभी को सर्वत्र अधिकार और अनधिकार युगपत् प्राप्त होने लगेगा और सभी जब सब कुछ करने के अधिकारी होंगे तो वर्णादि धर्मों में सांकर्य प्राप्त होगा क्योंकि ब्राह्मण को शूद्र-धर्म में व शूद्र को ब्राह्मण-धर्म में अधिकार होने पर एक ही ब्राह्मणादि ब्राह्मण व ब्राह्मणेतर दोनों के धर्मों को करने लगेगा। यह स्थिति वादी को

सर्वजात्यादिमत्त्वेऽस्य नितरां हेत्वसंभवः ।
विशेषं ह्यनुपादाय कर्म नैव प्रवर्तते ॥७४॥
स्याद्विधिरध्यात्माभिमानादिति चेत्? नैवम्। यस्मात्–
न चाध्यात्माभिमानोऽपि विदुषोऽस्त्यासुरत्वतः ।
विदुषोऽप्यासुरश्चेत्स्यान्निष्फलं ब्रह्मदर्शनम् ॥७५॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

ब्राह्मणत्वात्सम्भवः शूद्रत्वाच्चासम्भवः। एवमत्र योज्यम्। यदा विदुषः[1] प्रतीतवर्णाश्रमाद्यभिमानस्स्वाभाविको भवति, तदा कर्मविधिगोचरत्वं भविष्यति।।७४।।

शङ्कामुत्थाप्य परिहरति–स्याद्विधिरित्यादिना।।७५।।

भी अनिष्ट है, क्योंकि इसमें जहाँ कर्माधिकारानुसार कर्म-कर्त्तव्यता प्राप्त होती है वहीं तदनधिकारानुसार अकर्तव्यता भी प्राप्त होती है, फलतः कर्म न करना दोषावह नहीं रह जाता। किं च—**व्यक्ति को हर जाति आदि वाला मानने पर अपने-अपने वर्णधर्मों में प्रवृत्ति का कोई कारण बिलकुल भी नहीं रहेगा, क्योंकि ब्राह्मणत्व, गार्हस्थ्य आदि किसी विशेष को मानकर ही कर्म-प्रवृत्ति होती है, उसके बिना नहीं**।।७४।। अधिकारी के अनुवाद-पूर्वक कर्म विधेय होता है यह सर्वमान्य व्यवस्था है। अधिकार सदा ही किसी विशेष की आकांक्षा करता है। सामान्यवशतो सामान्य का ही विधान सम्भव है। विशेषों का परस्पर विरोध होने से सामानाधिकरण्य अनुपपन्न होता है। सब विशेषों का सामानाधिकरण्य मानने का अर्थ है कि उस वस्तु में कोई विशेष नहीं है। फलतः उसके लिये कुछ विधेय नहीं है यह अभिप्राय है।

यह भी नहीं कह सकते कि विशिष्ट शरीर में—किसी एक जाति, एक अवस्था आदि वाले देह में अपने तादात्म्य का अभिमान भ्रमात्मक निश्चय होने से ही विधि सम्भव हो जायेगी, क्योंकि **जिसका अज्ञान दूर हो चुका है उसे अज्ञान के कारण होने वाला देहतादात्म्य-निश्चय, देहाभिमान, हो नहीं सकता। यदि ज्ञानवान् को भी वह भ्रम होता हो तब तो ब्रह्मज्ञान व्यर्थ ही होगा**।।७५।। वादी ज्ञानी से कर्म कराना चाहता है, तभी कर्म से ज्ञान का समुच्चय सम्भव होगा तथा यहाँ स्वयं कह रहा है कि अभिमान अर्थात् मिथ्या निश्चय से कर्म होगा, एवं च स्ववचोविरुद्धतावश वह स्वतः खण्डित है।

---

१. अविदुषइति च्छेदः।

अज्ञानकार्यत्वान्न समकालं नापि क्रमेण[१] ज्ञानकर्मणोर्वस्त्व-वस्तुतन्त्रत्वात् सङ्गतिरस्तीत्येवं निराकृतोऽपि काशं कुशं वा अवलम्ब्याऽऽह–[२]

अथाध्यात्मं [३]पुनर्यायादाश्रितो मूढतां भवेत्।
स करोत्येव कर्माणि को ह्यज्ञं विनिवारयेत् ॥७६॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

कथं विदुषोऽनुभवसिद्धस्य शरीराद्यभिमानस्य युक्त्या निराकरणमिति शङ्कां प्रदर्श्य, तर्हि तस्यानवगतब्रह्मस्वभावत्वात् कामाधिकारेऽपि[४] न ज्ञानकर्मसमुच्चय इति परिहरति–अज्ञानकार्यत्वादित्यादिना।।७६।।

अज्ञानकार्य होने से अज्ञाननाश हो चुकने पर कर्म रहे यह सम्भव नहीं। अयथार्थ जानने से ही कर्म हो सकता है जब कि ज्ञान है यथार्थ जानना। अतः ज्ञान-कर्म का साथ रहना तथा ज्ञान के बाद कर्म का रहना सम्भव किसी तरह नहीं यह सिद्ध हो चुकने पर भी 'डूबते को तिनके का सहारा' उक्ति चरितार्थ करते हुए यदि कोई कहे—**आत्मज्ञान के बाद भी पुनः देहतादात्म्याध्यास हो जाये (जिससे ज्ञान रहते कर्म उपपन्न हो जाये)? तो उत्तर सीधा है कि यदि उक्त अध्यास होता है तो उस व्यक्ति ने मूढता का–अज्ञानका–ही आश्रय लिया हुआ है क्योंकि बिना अज्ञान के अध्यास सम्भव नहीं। और मूढता के आश्रित व्यक्ति कर्म करता है इसमें सन्देह नहीं। अज्ञानी को कर्म करने से तो सिद्धान्ती रोकता नहीं।।७६।।** प्रारब्ध-रूप उपाधिवश होने वाला व्यवहार अध्यास की नहीं, प्रतीति की अपेक्षा रखता है। गुड़ मीठा ही है यह निश्चय रहते ही उद्रिक्त पित्त वाला रोगी मुखस्वाद न बिगड़े इसके लिये गुड़ से बचे यह अनुपपन्न नहीं और एतावता उसे 'गुड़ तीता है' यह अध्यास हो यह मानना संगत

---

१. समकालं समप्राधान्येन क्रमेणाङ्गाङ्गिभावेन वेति सारार्थकारः।
२. काशं कुशं वावलम्ब्य—दुर्बलप्रमाणमवलम्ब्य इति भावः। यथा—नदीप्रवाहे पतितः कश्चित्तीरप्राप्तीच्छया प्रवाहपतितं काशं कुशं वाऽवलम्बयति, परं नैवं तर्तुं समर्थो भवति।
३. विद्वानपि सन् पुनर्यदि देहादावात्माभिमानं कुर्यादितिभावः।
४. काममधिकारेपि, कर्माधिकारेपीति वा पाठं संभावयामः।

सिद्धत्वाच्च न साध्यम्। यतः–
सामान्येतररूपाभ्यां कर्माऽऽत्मैवास्य योगिनः[१]।
निःश्वासोच्छ्वासवत्[२] तस्मान्न नियोगमपेक्षते ॥७७॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

पुनरपि विदुषः कर्मासम्भवमाह–सिद्धत्वाच्चेति।।७७।।
एवमभेदपक्षे निराकृते पुनर्भेदाभेदपक्षमुत्थापयति तस्य स्वरूपेणैवासम्भवं

नहीं। अथवा जैसे राम के नाम-रूप-कर्म से अपना सर्वथा असम्बन्ध जानने वाला नट राम के ही नामादि से व्यवहार कर लेता है, ऐसे असत्य प्रपंच से सत्य प्रत्यगात्मा का त्रैकालिक असम्बन्ध जानने वाला तत्त्ववित् व्यवहार कर सकता है। एवं च जीवन्मुक्त में अध्यासिद्धि असम्भव है। मनुष्योचित आहारादि की तरह अध्यास के बिना ब्राह्मणाद्युचित कर्मान्तर हों?—इस प्रश्न का उत्तर है कि 'वशिष्ठः कर्मकर्त्ता च' इत्यादि अभियुक्तोक्त्यनुसार कर्मान्तर नहीं ही हों यह सिद्धान्ती का कथन नहीं, किन्तु इतना ही है कि कर्मान्तर नियमतः हों यह, तथा मोक्षार्थ अपेक्षित हों यह सम्भव नहीं। नियमतः मानवोचित आहार का भी नियम अनभ्युपगत है, संस्कारादिवशात् यदि कोई तत्त्वनिष्ठ मानवानुचित आहारादि करता मिले तो उससे उसकी तत्त्वनिष्ठा में किसी कमी की शंका नहीं की जा सकती।

किञ्च प्रकृत वादी के मत में कर्म तो विद्वान् का स्वरूप ही है अतः उसके लिये वह साध्य, कार्य नहीं हो सकता। क्योंकि—**आत्मा (इस मत में) सामान्य व विशेष दोनों रूपों वाला है इसलिये कर्मसामान्य और कर्मविशेष दोनों ही सामान्य और विशेष होने से आत्मरूप योगी के, ज्ञानी के, स्वरूप ही हैं। अतः साँस लेना-छोड़ने की तरह उसके लिये कर्म-विधि की अपेक्षा नहीं।।७७।।** यदि आत्मा को सामान्य विशेषरूप न मानने वाला मुख्य सिद्धान्त मानें तो साँस आदि वैध क्रियाओं के उदाहरण न होने से कर्मसमुच्चय की असम्भावना यथास्थित है।

अभेद पक्ष यदि अयुक्त है तो यही मान लिया जाये कि भेद व अभेद दोनों रूपों

---

१. 'कर्मयोगिनो विदुषः' इति भावः।
२. 'तद्वदनायाससिद्धत्वादिति' भावः।

अस्तु तर्हि भिन्नाभिन्नात्मकं ब्रह्म। तथा च सति ज्ञानकर्मणी संभवतः। भेदाभेदविषयत्वात् तयोः।

तत्र तावदयं पक्ष एव न संभवति। किं कारणम्? न हि

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

दर्शयितुम्–अस्तु तर्हीति[1]। **तत्र च कर्मज्ञानकाण्डयोः प्रामाण्यानुपपत्तिः प्रमाणम्; अभेदं विना ब्रह्मास्मीति ज्ञानानुपपत्तेर्भेदं विना चानेककारकसाध्य-कर्मणोऽनुपपत्तेश्चेति दर्शयति**–तथा चेति।

तिष्ठतु तावत् ब्रह्मणो भिन्नाभिन्नत्वं, लोकेऽप्ययं पक्षो न सम्भवतीत्याह–तत्र तावदिति। **ननु सन्घटः शुक्लः पटो मृच्छरावो दण्डी देवदत्त इत्यादौ सामान्यविशेषद्रव्यगुणादीनां सामानाधिकरण्यमत्यन्तभेदेऽभेदे च पटो घटोऽश्वो महिष इत्यादावदर्शनादनुपपद्यमानं भिन्नाभिन्नत्वं कल्पयतीति शङ्कते**–किं कारणमिति। **तर्हि वक्तव्यं अभेद इत्यत्र नञा**[2] **किं भेदाभावः, किं वा भेदविरोधी, भेदादन्यो वाभिधीयत इति? न तावदाद्यौ। तथा सति भेदाभेदयोरेकत्र युगपत्समावेशानुपपत्तेः। नापि तृतीयः, रूपरसादीनामपि**

वाला आत्मा है; तब भेद रहते हो सकने वाले कर्म और अभेद रहते हो सकने वाला ज्ञान सम्भव हो जायेंगे। किन्तु सुनने में अच्छा लगने पर भी यह पक्ष है असम्भव। कारण यह है कि अभेदबुद्धि हटाये बिना 'यह भिन्न है' ऐसी भेद-बुद्धि पदार्थ को विषय नहीं करती। भेद व अभेद का वस्तुतः युगपत् एकत्र अवस्थान असंभव है। अभेद को भेद का अभाव या भेद-विरोधी मानने पर इनका साथ वादी कह भी नहीं सकता। केवल भेद से अलग-मात्र को अभेद कहें तब तो भेद से अलग होने से रूपादि भी अभेद होने लगेंगे और जिसे सिद्ध करना चाह रहे हैं वह पक्ष ही नहीं बनेगा। यदि अभेद हटे बिना भेद का रहना स्वीकारें तो यह ऐसी स्वीकृति होगी जिसके विषय में लौकिक व शास्त्रीय कोई प्रमाण नहीं मिलेगा। फलतः ऐसे अप्रामाणिक मत को विचार्य नहीं मान सकेंगे। किं

---

१. अभेदं विना ब्रह्माहमस्मीति ज्ञानानुपपत्तेर्भेदं विना चानेककारकसाध्यकर्मानुपपत्तेश्च भिन्नाभिन्नात्मकं ब्रह्मेति भावः।

२. नञ् शब्दः षड्विधेषु अर्थेषु प्रयुक्तो भवति। तथाहि—
तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञोऽर्थाः षट् प्रकीर्तिताः॥ इति प्राज्ञः।

भिन्नोऽयमित्यभेदबुद्धिमनिराकृत्य भेदबुद्धिः पदार्थमालिङ्गते। एवं ह्यनभ्युपगमे भिन्नाभिन्नपदार्थयोरलौकिकत्वं[1] **प्रसज्येत। अथ निष्प्रमाणकमप्याश्रीयते, तदाप्युभयपक्षाभ्युपगमात् अभेदपक्षे दुःखि ब्रह्म स्यात्। अत आह–**

भिन्नाभिन्नं विशेषैश्चेद् दुःखि स्याद् ब्रह्म ते ध्रुवम्।
अशेषदुःखिता च स्यादहो प्रज्ञाऽऽत्मवेदिनाम्[2] **॥७८॥**

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

भेदादन्यत्वेनाभेदत्वप्रसङ्गाद्, एवंविधभेदाभेदयोरभ्युपगमे चालौकिकत्वापत्तेः, सामानाधिकरण्यप्रत्ययस्य च कल्पितभेदेनापि सोऽयं देवदत्तः खं छिद्रमित्यादाविव सम्भवात्; इत्यभिप्रेत्य परिहरति–न हि भिन्नोऽयमिति। भेदबुद्धिरभेदबुद्धिमनिराकृत्य न हि पदार्थमालिङ्गत **इत्यन्वयः। अस्तु यथा तथा वा लोके, ब्रह्मणि पुनर्भिन्नाभिन्नत्वं सर्वथैवानुपपन्नमित्याह**–अथेति। **न केवलं दुःखित्वमात्रं सर्वजीवाभेदात् तद्गतमखिलमपि दुःखित्वं ब्रह्मगतमेवेति तत्प्राप्तिरनर्थायैव स्यादिति सोपहासमाह**–अशेषेति।।७८।।

च इस निष्प्रमाण मत को मानें तो ब्रह्म का संसार से भेद व अभेद दोनों वास्तविक मानने से अभेद भी माना ही जायेगा और दुःखी जीव से अभिन्न होने के कारण ब्रह्म भी दुःखी होने लगेगा! इसलिये कहते हैं—**सामान्य-विशेषरूप से यदि ब्रह्म भिन्न-अभिन्न दोनों होगा तब तो निश्चित ही वह तुम्हारे मत में दुःखी होगा ही। सब दुःखी जीवों से (जीवविशेषों से) वास्तविक अभेद होने पर जो अत्यन्त दुःखी ब्रह्म सिद्ध होगा उसकी स्थिति जीव से भी अधिक दयनीय होगी, क्योंकि जीव तो अकेले अपने ही दुःख से दुःखी है जब कि ब्रह्म को अनन्त जीवों का दुःख होगा। धन्य हैं ऐसे विचारक जो वास्तविक भेदाभेद मानते हैं।**।७८।। लोक में भी जिससे अभेद होता है उसका दुःख अपना भी बन जाता है। पुत्र मित्रादि के दुःखों से पिता आदि दुःखी देखे जाते हैं। वास्तव अभेद होने पर तो सुतराम् दुःख बढ़ेगा इसमें कहना ही क्या?

---

१. अप्रसिद्धत्वमिति भावः।

२. आत्मवादिनाम् इति पाठान्तरम्।

तस्मात् सम्यगेवाभिहितं, न ज्ञानकर्मणोः समुच्चय इत्युपसंह्रियते–

किञ्च, यह भी विचारणीय है कि समुच्चय क्या वस्तु है? सामान्यतः प्रसिद्ध है कि आपस में निरपेक्ष अनेक वस्तुओं का किसी एक वस्तु से सम्बन्ध समुच्चय होता है। प्रकृत में भी ज्ञान व कर्म स्वयं आपस में स्वतन्त्र रहकर मोक्ष से सम्बद्ध होते हैं—यही समझना होगा। किन्तु कर्म व ज्ञान का मोक्ष से क्या सम्बन्ध होगा? नित्यमोक्षवादी जनकता-सम्बन्ध स्वीकारेगा नहीं। अविद्यानिवर्तकत्व तो ज्ञान में ही रहेगा, कर्म में नहीं, क्योंकि प्रमा से ही अविद्या-निवृत्ति सर्वत्र दृष्टचर है, कर्म से कहीं नहीं। अविद्यानिवर्तकयोग्यत्व ज्ञान में लाना कर्म का प्रयोजन हो नहीं सकता क्योंकि ज्ञान में स्वरूपतः ही वह योग्यता है। अन्य कोई प्रतिबन्धक का निरूपण असम्भव है जिसे हटाना कर्म का कार्य हो। मन को तादृश ज्ञानयोग्य बनाना यदि कर्मोपयोग हो, तब तो सिद्धान्ताभिमत क्रम पक्ष से अविशेष स्पष्ट है।

कर्म के रहते हुए होने वाला ज्ञान ही अविद्या-निवर्तक है—यदि यह अभिप्राय है, तो प्रश्न उठता है कि (i) कर्म करने वाला और जिसे ज्ञान हो रहा है उसकी एकता अभिप्रेत है या (ii) कर्माधिकरणोपहित और ज्ञानाधिकरणोपहित की एकता से तात्पर्य है? प्रथम पक्ष में यदि कर्म से बाह्य क्रियायें लें तब तो असम्भव दोष है क्योंकि बाह्य क्रियायें स्थूल देह में रहेंगी और ज्ञान मन में रहेगा, फलतः क्रिया और ज्ञान का ऐकाधिकरण्य सम्भव नहीं। यदि मानस क्रियायें लें तब भी असम्भव है क्योंकि एक ही काल में मन क्रिया (उपासना) भी करे और ज्ञान (प्रमा) भी करे यह सम्भव नहीं। यदि कहें क्रिया का तत्काल होना आवश्यक नहीं तो विकल्प उठेगा कि क्या ज्ञान के पूर्व क्रिया हो या बाद में? प्रथमपक्ष तो अंगीकारपराहत है। द्वितीय पक्ष में शंका है कि क्या अनन्तरभावी क्रिया न होने तक पूर्वोत्पन्न ज्ञान निष्फल हुआ बना रहेगा या नहीं? यदि हाँ, तो यह अप्रामाणिक है क्योंकि कहीं भी ज्ञान अपना अज्ञाननिवृत्तिरूप फल उत्पन्न किये बिना भावी कर्म की इन्तजार करता देखा या माना नहीं जाता। असम्भाव्य का शास्त्र भी विधान नहीं कर सकता। यदि ज्ञान टिका नहीं रहेगा तब तो ज्ञानोत्तरभावी कर्म ही मोक्षहेतु मानना होगा और समुच्चय यह वाचोयुक्ति व्यर्थ होगी। कर्म की मोक्षकारणता का निराकरण अन्यत्र किया जा चुका है।

यदि कथंचित् स्वाधिष्ठित समवाय से (मन से अधिष्ठित शरीर से जो क्रिया का समवाय है उससे) क्रिया वाले मन में जायमान ज्ञान की मोक्षहेतुता विवक्षित हो तो अप्रयोजकता की शंका होगी ही अर्थात् यों परम्परा से सक्रिय न हो और ज्ञान सफल हो जाये इसमें क्या आपत्ति है—ऐसी तर्कजिज्ञासा बन जायेगी। शास्त्रान्यथानुपपत्ति को तर्क रूप में उपस्थित नहीं कर सकते क्योंकि शास्त्र की अन्यथा भी उपपत्ति सिद्धान्ती बता ही चुका है और सिद्धान्ती को लौकिक ज्ञान की एतादृश सहायता की अनपेक्षा रूप युक्ति का सहकार भी है।

अतः द्वितीय पक्ष ही विचारणीय हो सकता है। उसमें प्रश्न उठता है कि उपहित से क्या अभिप्राय है? यदि उपधेयसंनिधि में उपाधि का स्वरूपसत्त्व उपहित का अर्थ हो तब तो चैत्र के देह की क्रिया से उपहित मैत्र का आत्मा भी होने से अर्थान्तर ही हो जायेगा। यह नहीं कह सकते कि चैत्रदेह से मैत्र-आत्मा उपधेय नहीं, क्योंकि यदि उपधेय से उपधेययोग्य अर्थ है तब तो परकाय प्रवेशादि से चैत्रदेहोपधेयता मैत्रात्मा में होना सम्भव होने से वह उपधेय ही है; और यदि उपधेय का अर्थ तत्काल उपहित करें, तब लक्ष्य से अविशेष होगा—उपहित का ही अर्थ किया था 'उपधेय संनिधि में' इत्यादि से और उपधेय का अर्थ कर दिया उपहित! यदि चैत्र ऐसा व्यवहार्यत्व को मानें तो भी व्यवहारयोग्यत्व और व्यवह्रियमाणत्व के विकल्प पूर्वोक्त प्रकार से ही दुरुच्छेद बने रहेंगे। यदि उपहित का अर्थ है उपाधि में अध्यास वाला होना, अर्थात् क्रियाधिकरण स्थूलदेह में अध्यास वाला और ज्ञानाधिकरण मन में अध्यास वाला एक हो यह अभिप्राय है; तब भी प्रश्न है कि क्या ज्ञानकाल में देह की सक्रियता अपेक्षित है? यदि कहें हाँ, तो पूर्ववत् अप्रयोजकत्व का निराकरण पूर्वपक्षी का कर्तव्य होगा। शास्त्र की दुहाई भी पूर्ववत् ही वह नहीं दे सकेगा। यदि ज्ञानकाल से अतिरिक्त काल में अपेक्षित हो तब अतिरिक्त काल यदि ज्ञान से पूर्व का काल है तब सिद्धान्ती को अभीष्ट ही है और यदि उत्तरकाल है तो असम्भव है, क्योंकि ज्ञान से अज्ञाननिवृत्तिद्वारा अध्यास निवृत्त हो चुकेगा।

उक्त रीति से ही अन्वाचय और इतरेतरयोग का भी असम्भवत्व जान लेना चाहिये। अनेकों में जब एक प्रधान और बाकी गौण हों व सबका आपसी कोई सम्बन्ध हो तो अन्वाचय ऐसी वैयाकरणरूढि है तथा एक से अधिक का जहाँ

किसी से मिला हुआ सम्बन्ध होता है, अर्थात् वे एकाधिक यदि स्वतन्त्र रहें—मिले न हों—तो उस एक से सम्बद्ध न हो सकें, वहाँ इतरेतरयोग ऐसा व्यवहार है। सर्वत्र ही ज्ञान व कर्म का सहावस्थान असम्भव तथा कर्म का मोक्ष से (साक्षात्) सम्बन्ध असम्भव होना ही उक्त अर्थ समुच्चय का न होने में युक्ति है।

'समाहारः समुच्चयः' इत्यादि शब्दरत्नावली आदि से यदि समुच्चय का अर्थ करें समाहार अर्थात् समूह, तब भी समुच्चयवाद सिद्ध नहीं हो सकता। समूह भी क्या वस्तु है? समूही से अतिरिक्त होने पर अप्रामाणिक व अनतिरिक्त होने पर स्वयं ही असिद्ध—यही समूह की स्थिति है। वन, सेना आदि स्थलों में व्यवहारसिद्ध 'समूह' किसी प्रातिभासिक वस्तु को विषय करने वाली बुद्धि स्वीकारी भी जा सकती है, किन्तु ज्ञान और कर्म के किसी 'समूह' को लोक में कोई विषय करता नहीं कि वैसी भी कोई वस्तु स्वीकारी जाये। वादी की प्रतीति से भी अप्रामाणिक प्रतीतिमात्रसिद्ध ज्ञानकर्मसमूह माना जा सकता है क्योंकि विचार से निरूपण करने पर समूह कुछ सिद्ध नहीं होता। और ऐसी अप्रामाणिक वस्तु का शास्त्र विधान करे यह सम्भव न होने से समुच्चयवाद सर्वथा हेय है।

अंग-अंगिरूप से भी ज्ञानकर्म समुच्चय सम्भव नहीं। प्रथमतः तो कौन अंग हो व कौन अंगी, इसी में विनिगमना नहीं मिलेगी। फिर, ज्ञान व कर्म जैसी विलक्षण वस्तुओं में दृष्टोपकारक तो कोई अंगत्व सम्भव नहीं तथा अदृष्टोपकारक अंगत्व में कोई प्रमाण है नहीं। जो प्रमाणरूप से कहे वाक्य हैं वे सभी प्रकरणादि का निरूपण करने पर उक्त समुच्चय-साधक रहते नहीं एवं अंगताबोधक श्रुत्यादि प्रमाण पूर्ववादी को भी उपलब्ध नहीं। किं च कर्म का स्वतन्त्र फल विहित होने से वह ज्ञान का अंग बन नहीं सकता, क्योंकि अंगों का पृथक् फल हुआ नहीं करता। ऐसे ही विद्या का भी 'विद्यया विन्दतेऽमृतम्' (के. २-४) इत्यादि पृथक् फल श्रुत होने से वह भी कर्म का अंग नहीं हो सकती। साथ ही जब दो साधन मिलते हैं तो दो ही तरह से वैशिष्ट्य होता है—या तो दोनों साधनों के या उनमें से एक के फल में आधिक्यादि अन्तर हो जाता है और या दोनों के फलों से विलक्षण ही कोई फल होता है। उदाहरणार्थ नौकर भी कार्यक्षम है व मालिक भी। जब दोनों मिलते हैं तो दोनों के कार्यों में वैशिष्ट्य आता है—मालिक को फायदा अधिक होता है और नौकर को उपकरणादि-प्राप्ति से सुविधा अधिक होती

तमोऽङ्गत्वं यथा भानोरग्नेः शीताङ्गता यथा।
वारिणश्चोष्णता यद्वज्ज्ञानस्यैवं क्रियाङ्गता ॥७९॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

तमोङ्गत्वमिति। **ज्ञानस्य कर्माङ्गत्वाभावे कर्मणश्च ज्ञानाङ्गताऽभावे समसमुच्चयाभावे च दृष्टान्तत्रयम्। क्रियाङ्गतेत्यत्र क्रियां प्रत्यङ्गता, क्रियाऽङ्गम् अस्येति क्रियाङ्गतेत्युभयथा द्रष्टव्यम्॥७९॥**

है। अथवा मीठे व ठण्डे को मिलाकर सेवन करें तो पित्त की शान्ति होती है जो मीठे व ठण्डे के सेवन के फलों से विलक्षण फल है।

प्रकृत में यदि समुच्चयवश कर्म या विद्या के फल में वैशिष्ट्य मानें तो मानना पड़ेगा कि मोक्ष है कर्म या विद्या का ही फल किन्तु समुच्चय-वशात् उसी में—मोक्ष में—कोई वैशिष्ट्य आ जाता है। निर्विशेष मोक्षवाद में मोक्ष में वैशिष्ट्य अस्वीकार्य है। और यदि मोक्ष दोनों में से किसी एक का फल नहीं प्रत्युत दोनों के मिलने पर होने वाला फल है तब भी दो विकल्प हैं—या तो दोनों के मिलने से कोई तृतीय वस्तु का उद्भव होता है जिसका फल मोक्ष है और या दोनों वस्तुएँ कुछ-कुछ अंग समर्पित कर मोक्ष का निर्माण करती हैं। द्वितीय पक्ष तो निरंशमोक्ष में सम्भव नहीं। प्रथम पक्ष में प्रश्न होगा कि वह वस्तु क्या है? यदि वह ज्ञानादिरूप है तब तो समुच्चय अनावश्यक है और यदि ज्ञानादि से पृथक् है तो प्रमाणविरुद्ध होने से मोक्षोपायतया शास्त्रविहित नहीं हो सकती। शास्त्र ने केवल विद्या को, और, यदि वादी की बात भी मान ली जाये तो, कर्म को, मोक्ष का साधन बताया है। यदि इनके मिलने से इनसे पृथक् कुछ बन जाता है तो वह शास्त्रोक्त नहीं और शास्त्रोक्त ज्ञानादि की साधनता का विरोधी भी होगा अतः उभयवादी को अमान्य होगा। इस प्रकार विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि समुच्चय नामक कोई वस्तु है ही नहीं जिसे पूर्वपक्षी मोक्षोपाय बताये।

अतः ठीक ही कहा था कि ज्ञान और कर्म का कोई साथ नहीं। इसी बात का उपसंहार करते हैं—**जैसे सूर्य अन्धेरे का अंग नहीं वैसे ज्ञान कर्म का अंग नहीं। जैसे आग ठण्ड का अंग नहीं वैसे ही कर्म भी ज्ञान का अङ्ग नहीं। जैसे शीतलस्वरूप जल का गर्मी से साथ नहीं वैसे ही ज्ञान और**

यथोक्तोपपत्तिबलेनैव पूर्वपक्षस्योत्सारितत्वात्, वक्तव्यं नावशेषितमित्यतः प्रतिपत्तिकर्मवत् पूर्वपक्षपरिहाराय यत् किञ्चिद् वक्तव्यम् इत्यत इदमभिधीयते–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

केवलकर्मणां ज्ञानसमुच्चितानां वा मोक्षसाधनत्वस्य निराकरणात् ज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वं सिद्धम्। तत्र किमुत्तरग्रन्थसन्दर्भेणेत्याशङ्क्य; प्रमेयस्योपपादितत्वेऽपि तदुक्तीनामनिराकरणे तत्पक्षो न निराकृत इति मन्दमतीनामाशङ्का स्यात् तन्निवृत्तये तदुक्तीनां क्रमेण खण्डनायोत्तरग्रन्थ इत्याह– यथोक्तेति। प्रतिपत्तिकर्मवदिति। **उपयुक्तस्य द्रव्यस्य परित्यागे 'चात्वाले**

कर्म का साथ नहीं॥७९॥ गर्म पानी में जल और गर्मी के साहचर्य का भ्रम होने पर भी वास्तविक साथ नहीं केवल 'लाल लोहा' आदि की तरह भ्रम है, इसी प्रकार जीवन्मुक्त में ज्ञान-कर्म के साथ का भ्रम भले ही हो, इनका साथ कभी भी हो सकता नहीं।

कर्म स्वयं मोक्ष का साधन नहीं और ज्ञान के साथ कर्म का कोई सम्बन्ध सम्भव नहीं यह सिद्ध कर देने से अकेले या समुच्चित कर्म से मोक्ष मानने वालों का खण्डन हो गया। अतः इस विषय में यद्यपि कुछ बताने योग्य नहीं है तथापि बात सिद्ध होने पर भी पूर्वपक्षी के प्रत्येक प्रश्न का उत्तर न देने से यह शंका हो सकती है कि उस पक्ष का निःशेष निराकरण नहीं हुआ। इसलिये अब उनके प्रश्नों का उत्तर बतायेंगे। जिस प्रकार यज्ञकाल में पीठ आदि खुजलाने के लिये रखा काला सींग, यज्ञ समाप्त होने पर कृतकार्य होने से फैंका ही जायेगा, किन्तु 'उसका क्या किया जाये?' ऐसी शंका कर शतपथ ब्राह्मण में (४.४.५.२) कहा कि उसे एक (विशिष्ट) गड्ढे में फैंक देना चाहिये; उसी प्रकार कर्म से मोक्ष मानने वाला पक्ष खण्डित हो चुकने पर भी उनके प्रश्नों के उत्तरों को बताने के लिये अग्रिम विचार है। तात्पर्य है कि यद्यपि मूलतः मोक्षौपयिकतया कर्म व समुच्चय तिलशः खण्डित हो चुके हैं जिससे प्रत्येक शंका का समाधान वैसे ही व्यर्थ है जैसे यज्ञोपसंहारानन्तर कृष्ण विषाण, तथापि जैसे विधितः गृहीत विषाण का वैध त्याग ही उचित है वैसे वाद-नियमों के अनुसार वादी के प्रत्येक प्रश्न का निराकरण उचित होने से उत्तर प्रयास उपपन्न है।

मुक्तेः क्रियाभिः सिद्धत्वादित्याद्यनुचितं बहु।
यदभाणि तदन्याय्यं यथा तदधुनोच्यते ॥८०॥

योऽयं काम्यानां प्रतिषिद्धानां च त्यागः प्रतिज्ञायते, सा प्रतिज्ञा तावन्न शक्यतेऽनुष्ठातुम्। किं कारणम्? कर्मणो हि निर्वृत्तात्मनो द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां निवृत्तिः संभवति। आरब्धफलस्योपभोगेन, अनारब्ध-फलस्याशुभस्य (च) प्रायश्चित्तैरिति। तृतीयोऽपि त्यागप्रकारोऽ-कर्त्रात्मावबोधात्। स त्वात्मज्ञानानभ्युपगमाद् भवता नाभ्युपगम्यते। तत्र

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

कृष्णविषाणमुत्सृजेदि'ति नियमवन्निराकृतेऽपि पूर्वपक्षे तदुक्तिक्रमनिरासायायं प्रयत्न इत्यर्थः॥८०॥

तत्र 'अकुर्वतः क्रिया काम्या निषिद्धास्त्यजतस्तथे'ति यदुक्तं तत्तावन्निरा-करोति–योऽयमिति। **तत्किमनुष्ठितानां परित्यागः, किम्वा तदनुष्ठानस्य? इति विकल्प्य; नाद्य इत्याह**–कर्मणो हीति। निर्वृत्तात्मनो **निष्पन्नस्वरूपस्य। ननु 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' इति ज्ञानादपि सर्वकर्मनिवृत्तिः श्रूयते[1] इति? तत्राह**–तृतीयोऽपीति। **भवत्वेवं, ततः किमित्यत आह**–तत्रेति।

'मुक्ति क्रियाओं से प्राप्त होती है' (श्लो. ९) आदि जो कई अनुचित बातें कही थी, वे किस प्रकार असंगत हैं यह अब बताते हैं॥८०॥

कामना-प्रयुक्त व मना किये कर्मों को न करते हुए अवश्य करणीय कर्म करने से जो मोक्ष का होना बताया था (श्लोक १०), पहले उसका निराकरण करते हैं। यद्यपि यह प्रतिज्ञा तो कर दी कि काम्य व निषिद्ध का अनुष्ठान नहीं करना चाहिये तथापि उस प्रतिज्ञा का पालन किया नहीं जा सकता। इसमें क्या कारण है, यह बताते हैं : किये जा चुके कर्म की दो ही तरह निवृत्ति (अभोग्यतापत्ति) सम्भव है—या उनके फल भोगकर या जिन अशुभ कर्मों ने फलदान प्रारम्भ नहीं किया उनके प्रायश्चित्त करके। यद्यपि (प्रारब्धातिरिक्त) सभी कर्मों की निवृत्ति अपने अकर्तापन को जान लेने से भी सम्भव है तथापि अकेले आत्मज्ञान से मोक्ष न मानने वाले वादी को वह उपाय स्वीकृत नहीं। जिनका फल भोगा नहीं जा चुका ऐंसे जिन कर्मों ने फल देना शुरू ही नहीं किया उनकी

---

१. तत्र कथं द्वाभ्यां प्रकाराभ्यामित्युच्यत इति शेषः।

यान्यनुपभुक्तफलानि अनारब्धफलानि, तानि ईश्वरेणापि केनचिदपि न शक्यन्ते परित्यक्तुम्। अथारब्धफलानि त्यज्यन्ते, तान्यपि न शक्यन्ते त्यक्तुम्। किं कारणम्? अनिवृत्तेः[१]। अनिर्वृत्तं हि चिकीर्षितं कर्म शक्यते त्यक्तुम्। प्रवृत्तिनिवृत्ती प्रति कर्तुः स्वातन्त्र्यात्। निर्वृत्ते तु कर्मणि तदसंभवात् दुरनुष्ठेयः प्रतिज्ञातार्थः।

अशक्यप्रतिज्ञानाच्च। न च शक्यते प्रतिज्ञातुं 'यावज्जीवं काम्यानि प्रतिषिद्धानि च कर्माणि न करिष्यामि' इति। सुनिपुणानामपि सूक्ष्मापराधदर्शनात्।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

तान्येव विशिनष्टि[२]–आरब्धेति। **उपभोगप्रायश्चित्ताभ्यां विना निष्पन्नस्यानिवृत्तेरित्यर्थः। एतदेव व्यतिरेकमुखेनोपपादयति**–अनिर्वृत्तं हीति। तदसम्भवात् **स्वातन्त्र्यासम्भवात्।**

तो कोई महान् शक्तिशाली व्यक्ति भी निवृत्ति नहीं कर सकता; क्योंकि वे उपस्थित ही नहीं हैं; जो है ही नहीं उसे कोई निवृत्त क्या करेगा। जिन कर्मों ने फल देना प्रारम्भ कर दिया है, वे भी नहीं छोड़े जा सकते, क्योंकि उनकी भी निवृत्ति भोग व प्रायश्चित्त से अतिरिक्त किसी उपाय से हो नहीं सकती। जिसे करना चाहते हैं पर अभी तक किया नहीं है ऐसे कर्म को तो छोड़ सकते हैं क्योंकि करने-न करने में कर्ता स्वतन्त्र है। किन्तु जो किया जा चुका कर्म है उसके विषय में करने वाला अब स्वतन्त्र रहा नहीं। अतः उनकी निवृत्ति असम्भव है।

'आगे जीवनभर मैं कामनाप्रयुक्त तथा मना किये कर्म नहीं करूँगा'—ऐसी भी कोई प्रतिज्ञा नहीं कर सकता क्योंकि अत्यन्त सावधान भीष्म, युधिष्ठिर आदि भी गलत कार्यों से सर्वथा बच नहीं पाये। अतः जो किये नहीं जा चुके हैं ऐसे कर्मों का भी पूर्णतः त्याग सम्भव नहीं। जीवन में किसी न किसी ऐसे कर्म का होना नहीं बचाया जा सकता जो काम्य या निषिद्ध न हों।

---

१. अनिर्वृत्तेः—इति अच्युतग्रन्थमालानुसारी पाठः। चन्द्रिकानुसारी—'अनिवृत्तेः' इति। क्लेशापहारिणीकारस्तु 'निर्वृत्तेः' इति पाठं युक्तं मन्यते।

२. चन्द्रिकायाम्—'विशिनष्टि—**अनारब्धेति**। अनारब्धानां कर्मणाम् अनुपस्थितत्वाद् एव निवर्तनाऽयोगाद् इत्यर्थः। तर्हि, आरब्धफलानि त्यज्यन्ताम्—इत्याशंक्य, परिहरति—**अथेत्यादिना**। **अनिवृत्तेरिति**, उपभोग.....'।

प्रमाणाभावाच्च। न च प्रमाणमस्ति मोक्षकामो नित्यनैमित्तिके कर्मणी कुर्यात्, काम्यप्रतिषिद्धे च वर्जयेत्, आरब्धफले चोपभोगेन क्षपयेत्–इति।

आनन्त्याच्च। न चोपचितानां कर्मणामियत्ता अस्ति, संसारस्यानादित्वात्। न च काम्यैः प्रतिषिद्धैर्वा तेषां निवृत्तिरस्ति। शुक्लयशुद्धिसाम्ये सत्यविरोधाद् इति अत आह–

न कृत्स्नकाम्यसंत्यागोऽनन्तत्वात् कर्तुमिष्यते।
निषिद्धकर्मणश्चेह व्यतीतानन्तजन्मसु ॥८१॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

अथानुष्ठानस्यैव परित्याग इति द्वितीयं पक्षं दूषयति–आनन्त्याच्चेति। **तदेव प्रपञ्चयति**–न चेति। **तर्हि 'अस्त्रमस्त्रेण शाम्यती'ति न्यायेन काम्यैः काम्यानां, प्रतिषिद्धानां निवृत्तिरस्त्विति? अत आह**–न च काम्यैरिति। **उपपादितेऽर्थे श्लोकमवतारयति**–इत्यत आहेति।।८१।।

अस्तु तर्हि तेषां नित्यकर्मणा निवृत्तिरित्याशङ्क्य परिहरति–

किं च, मोक्ष चाहने वाले के लिये वेद में ऐसा कहीं कहा भी नहीं है कि वह जिन कर्मों ने फल देना प्रारम्भ कर दिया उनका फल भोगते हुए कामना-प्रयुक्त व मना किये कर्मों को न करे और अवश्य करणीय कर्मों को करता रहे।

अतः 'मुक्ति क्रियाओं से प्राप्त होती है' इसमें कोई प्रमाण नहीं। जो कर्म किये जा चुके हैं वे असंख्य हैं क्योंकि अनादि संसार में अब तक न जाने कितने कर्म हम कर चुके हैं। अतः सबका फल भोगने में भी अनन्त जन्म अपेक्षित होने से मोक्ष का प्रसंग ही नहीं आयेगा। न यह मान सकते हैं कि पहले जिन्हें कामना से किया था, उन्हें अब कामना से ही दूसरे कर्म करके नष्ट किया जा सकता है, क्योंकि नये कर्म भी अपना फल वैसे ही उत्पन्न करेंगे जैसे पहले वालों ने किया और वे भी शुभ या अशुभ फल देने वाले होने से पूर्वकृत कर्मों के विरोधी नहीं हो सकते। यह कहते हैं—**बीते असंख्य जन्मों में किये होने से स्वयं अनन्त होने के कारण सभी कामना-प्रयुक्त व गलत कर्मों का त्याग इस जन्म में किया नहीं जा सकता**।।८१।। इस जन्म में नहीं हो सकता तो कुछ और जन्मों में नष्ट कर लेंगे—यह आशा भी नहीं की जा सकती, क्योंकि नष्ट करने के लिये प्राप्त वर्तमान व भावी जन्मों में पुनः अनन्त काम्य-निषिद्ध एकत्र हो जायेंगे।

स्यान्मतम्, व्यतीतानन्तजन्मोपात्तानां कर्मणाम्–

क्षयो नित्येन तेषां चेत् प्रायश्चित्तैर्यथैनसः ।
निष्फलत्वान्न नित्येन काम्यादेर्विनिवारणम् ॥८२॥

प्रमाणाभावाच्च। कथम्?

पापापनुत्तये वाक्यात् प्रायश्चित्तं यथा तथा ।
गम्यते काम्यहानार्थं नित्यं कर्म न वाक्यतः ॥८३॥

अथापि स्यात्, काम्यैरेव काम्यानां पूर्वजन्मोपचितानां क्षयो भविष्यतीति। तन्न। यतः–

पाप्मनां पाप्मभिर्नास्ति यथैवेह निराक्रिया ।
काम्यैरपि तथा नास्ति काम्यानामविरोधतः ॥८४॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

स्यान्मतमिति।।८२।।

उपात्तदुरितक्षयार्थानि नित्यानीति भाट्टादिभिरभ्युपगमान्नित्यानां निष्फलत्वमसिद्धमित्याशङ्क्य; अथापि काम्यनिवृत्तिस्ततो भवतीत्यत्र प्रमाणं न पश्याम इत्याह–प्रमाणाभावाच्चेति।।८३।।

अस्तु तर्हि काम्यैरेव काम्यानां निवृत्तिरित्याशङ्क्य, श्लोकेन परिहरति– अथापीत्यादिना।।८४।।

यदि पूर्वजन्मों में किये जा चुके कर्मों के विषय में ऐसा मानें कि—**जैसे प्रायश्चित्त से पूर्वकृत पाप नष्ट हो जाते हैं वैसे अवश्य करणीय कर्मों से वे (=पूर्वजन्मों में किये सब कर्म) नष्ट हो जायेंगे, तो भी गलत होगा क्योंकि अवश्य करणीय कर्म तो बिना फल वाले माने गये हैं। जब उनका कोई फल नहीं तो पूर्वजन्मों में किये कर्मों की निवृत्ति भी उनका फल क्योंकर होगा।।८२।।** और इस बात को माना जाये इसके लिये कोई प्रमाण भी नहीं है। **जैसे पाप के नाशक प्रायश्चित्त बताये गये हैं ऐसे वेद में कहीं कामनाप्रयुक्त कर्मों का नाशक अवश्यकरणीय कर्मों को नहीं कहा है।।८३।।** क्योंकि तुम्हें (=वादी को) वेद और स्मृति से अतिरिक्त कहीं विश्वास नहीं (श्लोक १५) इसलिये कुमारिल भट्टादि ने जो अवश्य करणीय कर्मों का फल माना है उसे तुम स्वीकारोगे नहीं।

कामनाप्रयुक्त कर्मों से पूर्वकृत कामनाप्रयुक्त कर्मों की निवृत्ति नहीं हो सकती।—**जैसे पापकर्म से पापकर्म की निवृत्ति नहीं होती वैसे ही कामनाप्रयुक्त कर्म अन्य**

एवं तावत्, 'मुक्तेः क्रियाभिः सिद्धत्वात्' (१-९) इति निराकृतम्। अथ, आत्मज्ञानस्य सद्भावे प्रमाणासंभव उक्तः। तत्परिहारायाह–

श्रुतयः स्मृतिभिः साकमानन्त्यात् कामिनामिह ।
विदधत्युरुयत्नेन कर्मातो बहुकामदम् ॥८५॥

न च बाहुल्यं प्रामाण्ये कारणभावं प्रतिपद्यते। अत आह–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

यदुक्तम् पूर्ववादिना 'यावन्त्यश्चेह विद्यन्त' इति तत्परिहारायोत्तरश्लोक इति वृत्तं सङ्कीर्त्तयन्नाह–एवन्तावदिति। **काम्यमानविधिफलसाधनत्वमेव तत्र तत्र कर्मणो दर्शितं, न पुनरात्मज्ञानान्तरस्य वा मोक्षसाधनत्वं वाऽस्तीति तत्र दर्शितमिति भाव**[१]।।८५।।

कर्मप्रतिपादकवेदवाक्यानां बहुलत्वादात्मप्रतिपादकानां चाल्पत्वात् कर्मण्येव वेदस्य तात्पर्यमित्यत आह–न चेति। **प्रमाणानां स्वतः प्रमाणत्वेन स्वविषयसाधने प्रमाणान्तरानपेक्षत्वात्, सम्वादात् प्रामाण्यमित्यनङ्गीकारात्,**

कामनाप्रयुक्त कर्मों का नाश नहीं कर सकते क्योंकि उनका पारस्परिक कोई विरोधी नहीं।।८४।। विरोधी ही नाशक होता है यह सर्वमान्य है। इस प्रकार 'मुक्ति क्रियाओं से प्राप्त होती है' इत्यादि पक्ष का निराकरण हो गया।

अब जो यह कहा था कि आत्मज्ञान में कोई प्रमाण नहीं, उसका परिहार करते हैं—**कामना वालों की अनन्तता देखकर स्मृतियों सहित श्रुतियाँ बहुत फल देने वाले कर्मों का विधान कई प्रकार से करती अवश्य हैं, पर इतने मात्र से वे आत्मज्ञान का अभाव या उसकी मोक्षसाधनता का अभाव बताती हैं यह नहीं कह सकते।।८५।।** एक का विधानमात्र अन्य के निषेध में परिणत नहीं हो सकता। यदि अन्य निषेध में तात्पर्य है तो विधेय में तात्पर्य रह नहीं सकता, अन्यथा वाक्यभेद की आपत्ति होगी। साक्षात् निषेध कहीं ज्ञानादि का उपलब्ध नहीं।

बहुलता प्रामाणिकता में कारण नहीं होती। इसलिये कहते हैं—**प्रामाणिकता के लिये बहुलता अपेक्षित नहीं है। एक विषय में बहुत से प्रमाण नहीं होते, एक ही हुआ करता है।।८६।।** क्योंकि प्रमाण अपनी या अपनी प्रामाणिकता की सिद्धि के

---

१. चन्द्रिकायाम्—'...न पुनरात्मज्ञानाऽभावः तस्य मोक्षसाधनत्वाऽभावो वा तत्र तत्र प्रदर्श्यते' इति वर्तते। क्लेशापहारिणी—'कामावाप्तये च कर्माणि विधीयन्ते, तत्प्रदानोपायत्वात्। न चैतावता कर्मणो मोक्षसाधनत्वं, ज्ञानस्य तदसाधनत्वं वा सम्भाव्यत इति भावः' इति व्याचष्टे।

प्रामाण्याय न बाहुल्यं न ह्येकत्र प्रमाणताम्।
वस्तुन्यटन्ति मानानि त्वेकत्रैकस्य मानता ॥८६॥

यत्तूक्तं 'यत्नतो वीक्षमाणोऽपि' (१.१५) इति, तत्रापि भवत एवापराधः। कस्मात्? यतः–

परीक्ष्य लोकानित्याद्या आत्मज्ञानविधायिनीः[१]।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

काम्यकाण्डेष्वैकैकस्मिन् कर्मण्येकैकस्य वाक्यस्य प्रमाणत्वात् कर्मणां बहुत्वेन तत्र वाक्यबाहुल्यसम्भवाद्, आत्मनः एकतया तत्प्रतिपादकवाक्यबाहुल्यस्योभयत्रापि[२] अविशेषान्न बाहुल्यं प्रामाण्यायापेक्षणीयमिति भावः।।८६।।

यत्पुनरुक्तं वेदान्तेषु विध्यभावात् प्रामाण्यं न सम्भवतीति, तत्राह– यत्तूक्तमिति। आत्मज्ञानविधायिनीरिति। **आत्मज्ञानायाचार्योपगमनादिविधायिनी-**

लिये प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखता इसलिये बहुलता जरूरी नहीं। जहाँ कहीं एक वस्तु को अनेक प्रमाण विषय करते हैं, वहाँ भी उस वस्तु के विभिन्न वैशिष्ट्यों को ही वे विषय करते हैं, वे विशेष चाहे जितने सूक्ष्म हों। यदि कथंचित् सर्वथा समान-विषयकता होगी तो एक प्रमाण होगा व दूसरा अनुवाद, क्योंकि प्रमाण के लिये अज्ञात-ज्ञापक होना अनिवार्य है। जब तो अनेक प्रमाण एक विषय में उपन्यस्त किये जाते हैं तब उनमें प्रत्येक के विषय में सन्देह-सद्भाव की संभावना मानकर ऐसा किया जाता है। तृतीयाध्याय में (श्लो. ८३-८५) बतायेंगे कि प्रमाणों का कभी परस्पर विरोध नहीं होता। वहाँ भी हेतु देंगे 'भिन्नविषयत्वात्'। अतः अनेक प्रमाणों की समान-विषयकता स्वीकार नहीं है। कर्म-प्रसङ्ग में भी एक कर्म के लिये एक ही वाक्य (विधि) प्रमाण माना जाता है; वाक्यान्तर किसी न किसी (अधिकारी, गुण आदि) विशेष को विषय करने वाला स्वीकार्य होता है। ऐसे ही किसी कर्म की कर्तव्यता के लिये बहुतेरे वाक्य नहीं खोजे जाते, एक वाक्य ही पर्याप्त हो जाता है। ज्ञान-प्रसङ्ग में भी एक वाक्य मिल जाये तो ही पर्याप्त समझना चाहिये। कर्म स्वरूप व फल से अनेकविध होने से उन्हें बताने वाले वाक्य भी बहुत हों यह युक्त है। आत्मा एकरूप होने से उसे बताने वाला एक वाक्य भी काफी है।

जो तो यह कहा कि कोशिश करने पर भी ज्ञान की विधि नहीं मिली (श्लो.

---

१. 'स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठमि'ति च श्रुतेः (मु.उ. २-१-१२)
२. 'आत्मनः पुनरेकरूपत्वात् तत्प्रतिपादकवाक्यबाहुल्यानपेक्षणात्, शाखाभेदेन वाक्यबाहुल्यस्य उभयत्राप्यविशेषाद्'—इति चन्द्रिकायां पठ्यते।

नैष्कर्म्यप्रवणाः साध्वीः श्रुतीः किं न शृणोषि ताः ॥८७॥

ननु 'आत्मेत्येवोपासीत' (बृ. १.४.७), 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (बृ. २.४.५)–इत्यपूर्वविधिश्रुतेः पुरुषस्य आत्मदर्शनक्रियायां

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

रित्यर्थः। नैष्कर्म्यप्रवणा[१] **इति फलवत्त्वमुक्तम्।** साध्वीरित्युपक्रमाद्यधिगत-**तात्पर्यवत्त्वम्।।८७।।**

'आत्मज्ञानविधायिनीरि'ति यथाश्रुतमेव गृहीत्वा नियोगपरत्वं वेदान्तानां प्राप्तमिति शङ्कते–नन्वेवमित्यादिना[२]। **ज्ञानस्य प्रमाण-वस्तुपरतन्त्रत्वादिच्छया कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुमशक्यत्वाद् अन्वयव्यतिरेकसिद्धफलत्वेन च विध्यनपेक्षणात् तस्याविधेयत्वम्, किन्तु तत्साधनश्रवणादेरेवेत्यभिप्रेत्य परिहरति–** मैवमिति[३]। **ननु 'श्रोतव्यो मन्तव्य' इति श्रवणादिविधिव्यतिरेकेण 'द्रष्टव्य' इति**

---

१५), वह भी ढूँढने वाले की ही गलती है यह कहते हुए उस शंका का भी निवारण करते हैं—**निष्कर्मापन में तात्पर्य वाली, उपक्रमादि से जिनकी अध्यात्मविषयकता सिद्ध है ऐसी 'लोकों की परीक्षा करके' (मु. १.२.१२) आदि आत्मज्ञान के लिये गुरु के पास जाने आदि का विधान करने वाली श्रुतियाँ तुम्हें क्यों नहीं सुनायी देतीं?**॥८७॥ पूर्वाग्रहयुक्त व्यक्ति उपलब्ध भी उन बातों को स्वीकारना नहीं चाहता जो उसके आग्रह के विरुद्ध हैं। ग्रन्थान्त में (४.७५) मूलकार ही इस सम्बन्ध में सूचना देंगे। भट्ट आदि ने भी कहा है कि जो दोष-दृष्टि में तत्पर होते हैं उन्हें अविद्यमान भी दोष दीखने लग पड़ते हैं। गुणों को दोष समझना असूया है जो सही ज्ञान नहीं होने देती। यह निर्विरोध सत्य है कि एकमात्र भगवत्पादीय दर्शन ही ऐसा है जिसमें बिना किसी खींचा-तानी के सभी वाक्य अधिकारिभेद या दृष्टिभेद से यथाश्रुत ही उपपन्न कर दिये जाते हैं। अन्य सभी तथाकथित आचार्य अपनी पित्तोपहत दृष्टि का परिचय दिये बिना नहीं रह पाते।

प्रश्न होता है कि 'आत्मा—ऐसी ही उपासना करे' (बृ. १.४.७), 'आत्मा को देखना चाहिये' (बृ. २.४.५) आदि अपूर्व विधि होने से क्या आत्मज्ञान भी

---

१. 'अद्वितीयानन्दब्रह्मात्मैक्यफलिकाः। न तु स्वर्गादिविधिवदाभासफलिकाः'। (सारार्थः)।
२. नन्वात्मेत्यादिना—इति मूलानुसारी। ३. 'नैवम्' इति मूलपाठः।

नियोगोऽवसीयत इति? नैवम्। अपुरुषतन्त्रत्वाद् वस्तुयाथात्म्यज्ञानस्य सकलानर्थबीजात्मानवबोधोत्सारिणो मुक्तिहेतोरिति। विध्यभ्युपगमेऽपि नापूर्वविधिरयम्। अत आह–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

दर्शने विधिः श्रूयते इत्याशङ्क्य; मैवं, दर्शनस्याविधेयत्वप्रतिपादनात् प्राप्तत्वाच्च तत्राऽपूर्व[1] विध्यसंभवादिति परिहरति–विध्यभ्युपगमेऽपि **इति।** विध्यर्थः: **विधिप्रत्ययस्य लिङादेरर्थः। तत्रानेकत्र पाक्षिकतया प्राप्तौ परिसंख्येति[2] कीर्त्यतइति[3] वचनादत्र चानात्मदर्शनस्य प्राबल्यादात्मदर्शनस्य पाक्षिकत्वे**

कर्म की तरह वेदाज्ञा से होता है? उत्तर है कि वस्तुतः ऐसा नहीं है। ज्ञान प्रमाण के अधीन होता है, किसी आज्ञा के अधीन नहीं। अन्य की आज्ञा तो दूर, स्वयं ज्ञाता की इच्छा पर ज्ञान निर्भर नहीं करता। ज्ञान ज्ञाता के अधीन नहीं, विषय और प्रमाण के अधीन है। ज्ञान के उपायादि का विधान हो सकता है, क्योंकि वे क्रियारूप होने से कर्त्ता के अधिकार-क्षेत्र में आते हैं। एवं च श्रवणादि का विधान हो सकता है, ज्ञान का नहीं। श्रवण भी विचारात्मक होने से क्रियारूप है। अथवा तात्पर्यनिर्णयानुकूलयत्न सहित औपनिषद शब्द सुनने के अनुकूल व्यापार को श्रवण मानें तो भी वह क्रियात्मक होने से विधेय है। निर्णय तो

---

१. अपूर्वविधिः—'विधिर्वा स्यादपूर्वत्वात्' (मी.द. ३-४-३) सर्वथाऽप्राप्तविषयस्य प्रापको यो विधिः, स एवापूर्वविधिरिति भावः।
यथा—'व्रीहीन् प्रोक्षति' इत्यत्र प्रोक्षणरूपं यत् संस्कारकर्म तदेतद् विधिवाक्यादन्यत्र केनापि प्रमाणेन नोपलभ्यते, तस्मादयमपूर्वविधिः।

२. परिसंख्याविधिः—(मी. १-२-३४) उभयोश्च युगपत्प्राप्तावितरव्यावृत्तिपरो विधिः परिसंख्याविधिः यथा—'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या' इति। इदं ही वाक्यं न पञ्चनखभक्षणपरं, तस्य रागतः प्राप्तत्वात्। नापि नियमपरं, पञ्च पञ्चनखभक्षणस्य युगपत्प्राप्तेः पक्षेऽप्राप्त्यभावात्। अत इदमपञ्चनखभक्षणनिवृत्तिपरमिति भवति परिसंख्याविधिः। (अर्थ संग्रहः)। परिसंख्याविधौ 'नञ्' शब्दस्याभावात् निषेधवाक्यमित्यनुक्त्वा विधिवाक्यमेवाऽभिधीयते। वस्तुतस्तु तन्निषेधविधावेव पर्यवस्यते। किन्तु 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इत्यादि निषेधात् परिसंख्यायाः भिन्नं यदितरनिवृत्तिपरत्वं तदेव फलम्।

३. 'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति। तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयते।।' तन्त्रवार्तिकम् १.२.४२।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

नियमविधिः[1] 'आत्मा द्रष्टव्य' इति। यदा चात्मानात्मदर्शने तुल्यवत् प्राप्तेऽहमित्यात्मस्फुरणव्यतिरेकेणानात्मनो (ऽपिस्फुरणात्तत्र) परिसंख्या। तेन

ज्ञानात्मक होने से विधेय नहीं हो सकता यह स्मर्तव्य है। प्रमाण महावाक्य है इसमें सन्देह नहीं। आत्मा की यथार्थता न जानना ही सब दुःखों का बीज है। उसका नाशक अतएव मुक्ति का हेतुभूत जो ज्ञान है वह श्रवणादि साधनों के अनुष्ठान से ही सम्भव है। विधान करने से कोई आत्मा को जान ले, यह हो नहीं सकता। करना या न करना करने वाले पर चाहे निर्भर करे, जानना या न जानना उस पर *निर्भर* नहीं करता। जानने के अनुकूल जो क्रियायें हैं उनके रहते ज्ञान संभव, और उनसे विपरीत क्रियाओं के रहते न जानना सम्भव होता है इसमें सन्देह नहीं, जैसे आँखें बन्द किये रहें तो न दीखना तथा उन्हें खोले रहें तो दीखना सम्भव है; पर हम आँखें खोलने-बन्द करने में स्वतन्त्र होने पर भी देखने-न-देखने में स्वतन्त्र नहीं। यद्यपि यहाँ अन्तर इतना सूक्ष्म है कि प्रायः यह रहस्य समझ नहीं आता तथापि आचार्य श्रीशङ्कर ने इस तथ्य को अनेकधा स्पष्ट किया है। समझने का सरल एक मार्ग यह हो सकता है कि ज्ञानोत्पत्ति में कारण होता है विषयेन्द्रिय-सम्पर्कादि और उस सम्पर्कादि में कारण होता है हमारी चेष्टा; एवं च कारण का कारण होने से ज्ञान के प्रति चेष्टा अन्यथा सिद्ध अतएव कारण नहीं है। लोक में भी 'समझने की कोशिश करो' का अर्थ यही मानते हैं कि एकाग्रतादि पूर्वक तर्क के सहारे अध्ययन आदि साधनों का अनुष्ठान करो। अतः ज्ञान की विधि करना असम्भव है।

---

१. नियमविधिः—'नियमार्था वा श्रुतिः' (मी.द. ४-२-२४)।
पक्षेऽप्राप्तस्य प्रापको विधिर्नियमविधिः, यथा 'व्रीहीनवहन्ती' इत्यादिः। दर्शपौर्णमासाख्ये क्रतौ पुरोडाशाय तण्डुलनिष्पत्त्यर्थं वैतुष्यकरणाय नखविदलनावघातादयः बहुविधा उपायाः सन्ति, तत्र नियमविधिबलात् अवघातद्वारैव कार्यम् सम्पादनीयम्। 'व्रीहीन् अवहन्यादेवे'ति नियमः। एवं पक्षेऽवघातस्य प्राप्तत्वेन तद्विधाननामकमप्राप्तांशपूरणमनेन विधिना क्रियते। दृष्टमदृष्टञ्चेत्युभयमेव नियमविधेः फलम्। नियमविधिविहितेन अवघातादिकर्मणा यथा वैतुष्यरूपं दृष्टफलं, तथैव नियमादृष्टमपि उत्पद्यते।

नियमः परिसङ्ख्या वा विध्यर्थोऽपि भवेद्यतः ।
अनात्मादर्शनिनैव परात्मानमुपास्महे ॥८८॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

आत्मोपासनमप्यनात्मदर्शनिव्यावृत्त्यैव सिद्ध्यति। आत्मप्रत्ययानां पौनःपुन्येन स्वत एव प्राप्तत्वात् तस्मान्नापूर्वविधिरप्यप्राप्त्यभावादित्यर्थः[१] ॥८८॥

जो तो सिद्धान्त में विधि मानी जाती है वह भी श्रवणादि की है, न कि ज्ञान की; और वह अपूर्व विधि नहीं हो सकती। अतः कहते हैं—**विधि प्रत्यय का यहाँ नियम या परिसंख्या अर्थ हो भी सकता है, क्योंकि हम मुमुक्षु अनात्मदर्शनरूप अन्य व्यापार को छोड़कर परमात्मा की (श्रवणादि रूप) उपासना में प्रवृत्त हैं॥८८।**

अथवा, पूर्वश्लोक में कहा था 'आत्मज्ञानविधायिनीः' जिसका यद्यपि तात्पर्य ज्ञानोपायविधायिका श्रुतियों से था, तथापि वादी यथाश्रुत मानकर 'ज्ञान में विधि होती है' ऐसा अर्थ समझ पूछ बैठा—'आत्मा ऐसी ही उपासना करे' इत्यादि। उसका हृदय था कि यदि एक बार ज्ञान को विधेय मान लिया तो भूतार्थपरकता वचनों की रह न जायेगी और फलतः महावाक्यादि सभी का स्वकीय अर्थ में तात्पर्य समाप्त हो जाने पर उत्तर मीमांसा मात्र की प्रासङ्गिकता उच्छिन्न हो जायेगी। अतः उस प्रश्न का पहले स्पष्ट उत्तर दिया कि ज्ञान में विधि सम्भव नहीं। फिर तुष्यतु न्याय से आचार्य ने कहा कि यदि ज्ञान में विधि मान भी ली जाये तो वह अपूर्व हो नहीं सकती; नियम या परिसंख्या चाहे हों। अपूर्वविधि न स्वीकारने का बीज है उत्तरमीमांसा की सार्थकता में शङ्का न उठने देना। तात्पर्य है कि आत्मबोधक वाक्य स्वार्थ में तात्पर्य वाले हैं अतः आत्मा नित्यमुक्त ब्रह्मस्वरूप है यह शास्त्र से पता चल जाता है। हमें लगता है हम बद्ध हैं। जब हैं हम वास्तव में मुक्त तो बद्ध होने की प्रतीति

१. चन्द्रिकायाम्—'अत्र च अनात्मदर्शनस्य प्राबल्याद् आत्मदर्शनस्य अप्राबल्यात् पाक्षिकत्वे नियमविधिः 'आत्मा द्रष्टव्य' इति। यदा च आत्मानात्मदर्शने तुल्यवत् प्राप्तेऽहमित्यात्मस्फुरणाव्यतिरेकेण अनात्मनोऽपि स्फुरणात्, तत्र परिसंख्येति। उभयथाऽपि नापूर्वविधिः, अप्राप्त्यभावादित्यर्थः। नियमपरिसंख्ययोः सम्भवे हेतुमाह—**यत अनात्मादर्शनिनैवेति**। पाक्षिकत्वेन तुल्यत्वेन वाऽऽत्मानात्मदर्शनयोः प्राप्तौ अनात्मदर्शनव्युदासेन आत्मदर्शनाय नियम-परिसंख्ये सम्भवत इत्यर्थः। यद्वा; आत्मदर्शनस्य प्राप्तत्वाद् अपूर्वविध्यसम्भवेऽपि तदुपासनस्य अप्राप्तत्वाद् विधिरस्तु? इत्यत आह—**अनात्मेति**। आत्मोपासनम् अनात्मदर्शनव्युदासेन आत्मदर्शनावृत्त्यैव सिध्यति आत्मदर्शनानां पौनः पुन्येन स्वत एव प्राप्तत्वात्। ततश्च नोपासनेऽपि अपूर्वविधिरित्यर्थः।' इत्युक्तम्॥

यच्चोक्तं 'विश्वासो नान्यतोऽस्ति नः' (१-१५) इति तदपि निद्रातुरचेतसा त्वया स्वप्नायमानेन प्रलपितम्। किं कारणम्? न हि वयं प्रमाणबलेन ऐकात्म्यं प्रतिपद्यामहे। ऐकात्म्यस्य स्वत एवानुभव-

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

प्रमाणगम्ये वस्तुनि तदभावादविश्वासो भवति, स्वतस्सिद्धतया सन्ततं प्रकाशमाने पुनरात्मनि न प्रमाणाभावादविश्वास इत्याह—न हीति। **'प्रत्यक्षादीनामनेवंविषयत्वात्तेषां स्वारम्भकविषयो पनिपातित्वादि'त्यादिना (२.१) चायमर्थो वर्णयिष्यत इत्याह**—अतएवेति। **किञ्च प्रमाणादीनां**

केवल अज्ञान से सम्भव होने के कारण आत्मज्ञान हम करें यह हमें किसी विधि के बिना भी प्राप्त ही है। एवं च अत्यन्त अप्राप्त न होने से अपूर्व विधि सम्भव नहीं। और इस प्रकार भूतार्थकतादि स्वपक्ष स्थापित हो गये क्योंकि यदि वह न हो तो आत्मज्ञान विधि के विना प्राप्त ही न हो पायेगा। नियमपक्ष में भी अप्राप्ति दशा में ही विधिसार्थक्य है, प्राप्तिदशा में तो अनुवादकत्व या व्यर्थत्व है ही। यह प्रश्न नहीं उठा सकते कि अविधेय ज्ञान की नियमविधि भी कैसे? क्योंकि यहाँ केवल तुष्यतुन्याय से विधि मानकर प्रवृत्ति है। परिसंख्या पक्ष में तो स्पष्ट ही ज्ञान विधेयकोटि में रहता ही नहीं क्योंकि उस विधि का तात्पर्य इतरनिवृत्ति में ही होता है। यह उत्तरार्ध में श्लोक द्वारा व्यक्त किया गया है। स्मरणीय है कि अप्पयदीक्षितादि ने सिद्धान्तलेशसंग्रहादि में श्रोतव्यविधि प्रसङ्ग में ही इस श्लोक को वार्तिकानुसारी पक्ष के प्रतिपादक रूप से उद्धृत किया है इसलिये इसका प्रथम अर्थ ही रुचिकर है। किन्तु प्रसङ्ग ज्ञान की विधेयता का होने से अचानक साधनों की बात करना सामान्यतः उचित न प्रतीत होने से वैकल्पिक अर्थ 'तुष्यतु दुर्जनः' न्याय से सङ्गत समझ लेना चाहिये।

जो तो यह कहा था कि वेद और स्मृति से इतरत्र तुम्हें कहीं विश्वास नहीं (श्लो. १५), वह भी नींद से आतुर चित्त वाले तुमने सोते हुए (बिना कुछ विचार किये) बड़बड़ाया है। कारण यह है कि हम केवल प्रमाण के सहारे अद्वितीय आत्मा का प्रतिपादन नहीं करते क्योंकि एकात्मता स्वयं ही अनुभवमात्र स्वरूप है। प्रमाणगम्य वस्तु भले ही प्रमाण की आकांक्षा करे और प्रमाण न मिलने पर शंकास्पद हो जाये, किन्तु जो स्वयंसिद्ध अनुभव है वह किसी प्रमाण की न अपेक्षा

मात्रात्मकत्वात्। अत एव सर्वप्रमाणावतारासंभवं वक्ष्यति। प्रमाणव्यवस्थायाश्च अनुभवमात्राश्रयत्वात्। अत आह–

वाक्यैकगम्यं यद्वस्तु नान्यस्मात् तत्र विश्वसेत्।
नाऽप्रमेये स्वतः सिद्धे विश्वासः कथमात्मनि ॥८९॥

यदप्युक्तम् 'अन्तरेण विधिम्' (१.१६) इति, तदप्यबुद्धिपूर्वकमिव

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

सिद्धेरनुभवाधीनत्वान्नानुभवरूपस्यात्मनः प्रमाणाधीनसिद्धिरित्याह–प्रमाणेति। **(अप्रमेये स्वतः सिद्ध आत्मनि न) कथं विश्वास इत्यन्वयः**[1]**।।८९।।**

दृष्टफलत्वादात्मज्ञानस्य विध्यभावेन फलाभावाभिधानमनुभव-

रखता है और न कभी शंका का विषय बनता है। प्रमाणों की सिद्धि अनुभव से होती है अतः अनुभव का प्रमाणों से सिद्ध होना या न होना कोई कीमत नहीं रखता। 'मैं हूँ, जब हूँ तभी अवश्य ज्ञान है अन्यथा नहीं, मुझ से अधिक और कुछ प्रिय नहीं, बिना मुझसे अतिरिक्त किसी के परामर्श से मुझमें कोई भेद नहीं' इत्यादि आत्मवार्ता अनुभव सिद्ध है, इसके लिये ग्रन्थों को खोजना ही पड़े यह जरूरी नहीं। इसलिये आगे (द्वितीय अध्याय के आरम्भ में) कहेंगे कि आत्मा को वस्तुतः कोई प्रमाण विषय करे यह सम्भव नहीं। सारी प्रमाण-व्यवस्था भी अनुभव पर ही आधारित होने से अनुभवात्मा आत्मा प्रमाण-सापेक्ष कथमपि नहीं हो सकता। इसलिये कहते हैं—**जो वस्तु केवल वाक्य से ही जानी जा सके उसमें (=धर्माधर्मादि में) वाक्य अर्थात् श्रुत्यादि से अन्यत्र विश्वास न होना ठीक है किन्तु जो प्रमाण से नहीं जाना जा सकता, ऐसे स्वयं अनुभवरूप आत्मा में कैसे विश्वास न हो?**॥८९॥ यह शंका नहीं करनी चाहिये कि आत्मा अप्रमाणिक वस्तु है, क्योंकि अनुभवरूप प्रमाण से वह साक्षात् सिद्ध है। अनुभव कोई प्रमाण नहीं क्योंकि प्रमाणषट्क में प्रोक्त नहीं यह भी नहीं कह सकते, कारण कि स्वयं भाष्यकार ने जन्मादि सूत्र व्याख्या में कहा है, 'अनुभवादयश्च यथासंभवमिह प्रमाणम्'। यथासम्भव का तात्पर्य न्यायनिर्णय में बताया है कि अनुभव साक्षात् प्रमाण है व बाकी अनुभव के द्वारा।

जो यह कहा कि बिना विधि के किया हुआ व्यर्थ होता है (श्लोक १६) वह भी

---

१. चन्द्रिकायां योजनान्तरम् 'ना पुरुषः, अप्रमेये स्वतः सिद्धे, अविश्वासो विश्वासरहितः, कथम् आत्मनि स्याद्' इति।

नः प्रतिभाति। यस्मात् कालान्तरफलदायिषु कर्मसु एतद् घटते। आत्मलाभकाल एव फलादायिनि त्वात्मज्ञाने नैतत् समञ्जसमित्याह–

ज्ञानात्फले ह्यवाप्तेस्मिन् प्रत्यक्षे भवघातिनि।
उपकाराय तन्नेति न न्याय्यं भाति नो वचः ।।९०।।

यदपि जैमिनीयं वचनमुद्घाटयसि तदपि तद्विवक्षाऽपरिज्ञानादेवोद्भाव्यते। किं कारणम्? यतो न जैमिनेरयमभिप्रायः 'आम्नायः सर्व एव क्रियार्थ' इति। यदि ह्ययमभिप्रायोऽभविष्यत्

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

विरुद्धमित्याह–यदपीत्यादिना।।९०।।

यत्पुनः 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादि'त्युक्तं, तत्राह–यदपि जैमिनीयमिति। **किमत्र प्रमाणमित्याह–**यदि हीति। **सिद्धरूपस्याकर्तुरभोक्तुः प्रत्यगात्मनः प्रतिपादकवेदान्तवाक्यविचाराय पृथक्शास्त्रारम्भान्यथानुपपत्तिरित्यत्र**

बिना समझे-बूझे कहा लगता है। कालान्तर में (अदृष्ट द्वारा) फल देने वाले कर्मादि के विषय में यह बात सही हो सकती है। किन्तु ऐसे आत्मज्ञान के विषय में नहीं जो स्वयं होने मात्र से सफल हो जाता है। भोजन विधिप्रेरित होकर खायें या उसके बिना, भूख तो मिटेगी ही, ऐसे ही ज्ञान चाहे वैध हो चाहे अवैध, अज्ञान हटायेगा ही। यह बात समझाते हैं—**ज्ञान से निश्चित रूप से संसार क्लेश के नाशक इस (मोक्षरूप) फल के अपरोक्ष मिलने पर (भी) 'ज्ञान कोई उपकार नहीं करता' यह (तुम्हारा) वचन हमें संगत नहीं लगता**॥९०॥ यद्यपि पूर्ववादी को फल प्रत्यक्ष नहीं और सिद्धान्ती के अनुभव में उसे श्रद्धा नहीं तथापि इस सामान्य नियम की ओर संकेत है कि ज्ञान अपना फल अज्ञान-निवृत्ति करने के लिये कर्मादि किसी सहाय की आकांक्षा न करने से उत्पन्न होते ही सफल होता है।

और जो तुम जैमिनि के वचन से विरोध दिखाते हो (श्लो. १७) वह भी उनकी पूरी बात समझे बिना ही करते हो। यदि उनका अभिप्राय होता कि पूरा वेद केवल क्रिया के लिये है (क्रिया-विधान में ही तात्पर्य वाला है) तो वे गम्भीर युक्तियों से संजोये हुए, उपनिषदों का अर्थ निर्णय करने वाले तथा ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप मात्र की यथार्थता बताने वाले 'शान्तादि होकर परमात्मा को

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्र.सू. १.१.१), 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र.सू. १.१.२)–इत्येवमादिब्रह्मवस्तुस्वरूपमात्रयाथात्म्यप्रकाशनपरं गम्भीरन्यायसंदृब्धं सर्ववेदान्तार्थमीमांसनं श्रीमच्छारीरकं नासूत्रयिष्यत्। असूत्रयच्च। तस्माज्जैमिनेरेवायमभिप्रायः–यथैव विधिवाक्यानां स्वार्थमात्रे प्रामाण्यम्, एवमैकात्म्यवाक्यानामपि। अनधिगतवस्तु-परिच्छेदसाम्यात् इति। अत इदमभिधीयते–

अधिचोदनं य[1] आम्नायस्तस्यैव स्यात्क्रियार्थता।
तत्त्वमस्यादिवाक्यानां ब्रूत कर्मार्थिता कथम्॥९१॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

प्रमाणमित्यर्थः। तर्हि 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादि'त्यस्य सूत्रस्य कोऽर्थः? इत्यत आह–अधिचोदनमिति। कर्मप्रकरणे पठितानां 'सोऽरोदीदि'त्यादि-सिद्धार्थवादवाक्यानामानर्थक्यमनेन सूत्रेणाशङ्क्य, 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युरि'ति विधिशेषत्वेन सार्थकत्वन्तेषां सिद्धान्तित-मित्यर्थः॥९१॥

जानने की कोशिश करनी चाहिये, जिससे संसार का जन्मादि होता है वह परमात्मा है' इत्यादि अध्यात्म सूत्र न बनाते, जब कि बनाया है। इसलिये[2] जैमिनि का अभिप्राय यही है कि जैसे अन्यथा अज्ञेय धर्म को बताने वाली विधियों का स्वकीय अर्थ में ही तात्पर्य है वैसे ही अन्यथा अज्ञेय अनन्तादि आत्मा को बताने वाले वाक्यों का स्वार्थ में ही तात्पर्य है। इसलिये यह कहते हैं—**विधि-विषयक वेद ही (= विधायक वेदवाक्य ही) क्रिया में तात्पर्य वाला है। 'तू ब्रह्म है' आदि वाक्यों का तात्पर्य क्रिया में है यह कैसे कह सकते हो?**॥९१॥ जैमिनि

१. अधिचोदनमाम्नाय इति पाठान्तरम्।

२. यद्यपि अध्यात्मसूत्रकार महर्षि बादरायण ही हैं जैमिनि नहीं, तथापि यहाँ वेदार्थ के विषय में दोनों आचार्यों का ऐकमत्य मानकर कहा गया है। ब्रह्मसूत्रों में अनेक मत जैमिनि ने व्यक्त किये हैं जिससे भी मालूम चलता है कि वे अध्यात्मविचार का औचित्य स्वीकारते हैं। श्रीशंकराचार्य ने भी एकत्र (ब्र.सू. ३.३-५३) ऐसा प्रयोग किया है जिससे भ्रम हो सकता है कि धर्ममीमांसा व ब्रह्ममीमांसा के कर्ता अभिन्न हैं। किन्तु वहाँ अभिप्राय यही है कि सूत्रकाररूप से दोनों समान है। शास्त्रद्वैविध्यवैयर्थ्य को युक्तिरूप से सर्वज्ञगुरु ने (संशा. १.७३) भी उपस्थापित किया है।

अपि च, ऐकात्म्यपक्ष इव अदृष्टार्थकर्मसु भवत्पक्षेऽपि प्रवृत्तिर्दुर्लक्ष्या। यतः–

स्वर्गं यियासुर्जुहुयादग्निहोत्रं यथाविधि।
देहाद्व्युत्थापितस्यैवं कर्तृत्वं जैमिनेः कथम्॥९२॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

यत्पुनरुक्तम् 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' इत्ययं मन्त्रः कृत्स्नमायुः कर्मण्येव विनियुङ्क्त इति, तदप्ययुक्तम्। आत्मनः परमार्थतः कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्य-भावात्तद्विदः कर्माधिकारासम्भवात्। तस्मादविद्वद्विषय एवायं मन्त्र इति प्रदर्शयितुमाह–अपि चेति। देहान्तरोपभोग्यस्वर्गादिसाधनाग्निहोत्रादि-विध्यन्यथानुपपत्त्या प्रतीतस्य देहेन्द्रियादिव्यतिरिक्तस्य सर्वगतस्य निरवयव-स्यात्मनो न परिस्पन्दपरिणामलक्षणक्रियावेशात्मकं कर्तृत्वमुपपद्यते। न च प्रयत्नाश्रयत्वेनापि कर्तृत्वं; प्रयत्नस्यान्तःकरणधर्मत्वाद्, अनित्यस्य नित्यगुणत्वानुपपत्तेश्चेत्यर्थः॥९२॥

ने भी 'वह रोया' आदि प्रकरण के वाक्यों को ही कर्मशेष माना है, न कि वेदान्त वाक्यों को। यद्यपि तन्त्रवार्तिकादि में वेदान्त वाक्यों के उपयोग पर चिन्तन किया गया है तथापि सूत्रकार ने ऐसा कोई संकेत नहीं दिया कि वेदान्तों को कर्माग बनाया जाये। बल्कि धर्मजिज्ञासा की प्रतिज्ञा से ही धर्मातिरिक्त वेदार्थ को उन्होंने स्पष्ट घोषित कर दिया, अन्यथा वे वेदार्थ-जिज्ञासा की प्रतिज्ञा करते। धर्मजिज्ञासा कहकर उन्होंने माना कि वेदार्थ के एकदेश की ही मीमांसा में वे प्रवृत्त हो रहे हैं। जो तो वार्तिकादि का विचार है वह उपास्ति-वाक्यों में यथाकथंचित् संगत है पर सिद्धार्थबोधक महावाक्यादि को कर्म से सम्बन्ध वाला मानना उपनिषदों की सही मीमांसा न करने का ही फल है। समुच्चयवाद में आग्रह होने से ऐसा होना स्वाभाविक है।

किं च एक ही आत्मतत्त्व स्वीकारने वालों के पक्ष की तरह तुम्हारे पक्ष में भी भावी-फल देने वाले कर्मों में प्रवृत्ति सम्भव नहीं। कारण यह है कि—**'स्वर्ग जाने की इच्छा वाला जैसा बताया गया है वैसा कर्म करे' ऐसा कहते ही देह छोड़कर स्वर्ग जाने वाले अतः देह से भिन्न आत्मा को जैमिनि ने कर्ता बताया है, जबकि देहादि से रहित शुद्ध आत्मा में कर्तापन किसी भी तरह बताया जा नहीं सकता**॥९२॥

न च प्रत्याख्याताशेषशरीरादिकर्मसाधनस्वभावस्याऽऽत्ममात्रस्य कर्मस्वधिकारः। यस्मात्–

सर्वप्रमाणासंभाव्यो ह्यहंवृत्त्यैकसाधनः।
युष्मदर्थमनादित्सुर्जैमिनिः प्रेर्यते कथम् ॥९३॥

प्रवृत्तिकारणाभावाच्च। यस्मात्–

सुखदुःखादिभिर्योग आत्मनो नाहमेक्ष्यते।
पराक्त्वात् प्रत्यगात्मत्वाज्जैमिनिः प्रेर्यते कथम् ॥९४॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

एवं कर्त्रन्वयं[1] निराकृत्य अधिकारान्वयं निराचष्टे–न चेति। **प्रत्याख्यातमशेषं शरीरादिलक्षणं कर्मसाधनं येन तत्स्वभावस्यात एवात्ममात्रस्य। सर्वप्रमाणागोचरश्चेत् कथं तर्हि व्यवह्रियत इत्यत आह**–अहं वृत्त्यैकसाधन **इति। युष्मदर्थमहंकारादिलक्षणमनादित्सुः** परमार्थतस्तत्संसर्गरहितो जैमिनि**र्जीवः** प्रेर्यते **प्रवर्त्यते विधिना** कथं, **न कथञ्चिदित्यर्थः।।९३।।**

इदानीं भोक्त्रन्वयं निराचष्टे–(प्रवृत्तीत्यादिना।)प्रवृत्तिकारणं **प्रयोजनम्। कथं भोक्तृत्वाभावः, सुख्यहं दुःख्यहमित्यहंप्रत्ययेनात्मनस्सुखित्वदुःखित्वादि-सम्बन्धानुभवादिति चेद्? मैवं। सुखदुःखादीनां साक्ष्यत्वेन पराक्त्वादात्मनश्च साक्षित्वेन प्रत्यक्त्वात्तेषां परागूपान्तःकरणपरिणामत्वादात्मधर्मत्वानुपपत्ते-रित्याह**–सुखेति।।९४।।

साथ ही, कर्म के साधनभूत शरीर आदि समस्त उपाधियों से शून्य आत्ममात्र का कर्मों में अधिकार भी नहीं है। क्योंकि—**सब प्रमाणों का विषय, केवल 'मैं' इस अनुभवरूप से सिद्ध आत्मा यदि अहंकारादि उपाधि को ग्रहण न करे तो चाहे वह जैमिनि का ही आत्मा हो, विधि द्वारा कैसे प्रेरित किया जा सकता है?**।।९३।। बिना अहमादि अध्यास के नियोज्यता सिद्ध नहीं होती इत्यादि अध्यास भाष्य में स्पष्ट है। आत्ममात्र का कहना पर्याप्त होने पर जैमिनि के आत्मा का कथन उस मत वाले के उपालम्भ के लिये है।

आत्मा प्रवृत्ति करे इसका कोई कारण न होने से भी आत्मा कर्म कर नहीं सकता।

---

१. विधि का अर्थ है श्रेयःसाधनता। अतः विधि सुनकर 'किसका श्रेयः' प्रश्न उठता है। श्रेयःके निर्णय के लिये भोक्ता समझना पड़ता है क्योंकि श्रेयः का भोग करने वाला ही

किञ्च–

न तावद्योग एवास्ति शरीरेणात्मनः सदा।
विषयैर्दूरतो नास्ति स्वर्गादौ स्यात्कथं सुखम् ।।९५।।

यस्मादन्यथा नोपपद्यते–

नराभिमानिनं[1] तस्मात्कारकाद्यात्मदर्शिनम्।
मन्त्र आहोररीकृत्य 'कुर्वन्नि'ति न् निर्द्वयम् ।।९६।।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

भोगसाधनैः सम्बन्धासम्भवादप्यात्मनोऽहंप्रत्ययालम्बनेन शरीरेणापि न सम्बन्धः। अहं प्रत्ययानालम्बनैः पुनर्विषयैश्शब्दादिभिरतिशयेन नास्ति सम्बन्धः। अतः कथमस्य सम्बन्धाय प्रवृत्तिस्स्यादिति आह–किञ्चेति।।९५।।

एवं कर्त्रन्वयाधिकारान्वयभोक्त्रन्वयानामात्मनः परमार्थतोऽसम्भवाद् अनाद्यविद्यावशाद् देहेन्द्रियादावहं-ममेति मिथ्याभिमानवत एव कर्माधिकारो

आत्मा के लिये कर्मसाध्य कोई प्रयोजन इसलिये नहीं है क्योंकि—**सुख-दुःख आदि से आत्मा का नहीं अन्तःकरण का ही सम्बन्ध होता है क्योंकि सुखादि ज्ञेय हैं अतः द्रष्टा आत्मा से अलग है। ऐसी हालत में जैमिनि का आत्मा भी कैसे प्रेरित किया जा सकता है? (जब आत्ममात्र प्रेरणीय नहीं है तो आत्मविशेष का प्रेरणीय होना असम्भव है।)**।।९४।। और भी—**देहादि से आत्मा का सम्बन्ध ही नहीं है, विषय से तो सम्बन्ध और दूर की बात है! यह स्थिति होने पर स्वर्गादि में सुखसम्बन्ध कैसे होगा जिसके लिये कर्म करे?**।।९५।।

कर्तृत्व, अधिकार और भोक्तृत्व आत्मा में असम्भव होने से जो तुमने मन्त्र से विरोध कहा था, (श्लो. १८), वह भी ठीक नहीं—**'मैं नर हूँ' ऐसे निश्चय वाले स्वयं**

श्रेयउपाय को अपना समझेगा, 'मेरा श्रेयउपाय है' ऐसा समझेगा। यों भोक्ता का विधि से अन्वय अर्थात् सम्बन्ध होता है। तदनन्तर 'मेरा श्रेयउपाय होने से मैं इसे करूँ' यों कर्तारूप से अन्वय होता है। अधिकार में हेतु 'अनुपादेय-विशेषण' होता है। विधि से किया जानेवाला अनुष्ठेय और उसके विशेषणों से अन्य जो विधि के सम्बन्धी वे 'अनुपादेय' कहे जाते हैं, जैसे स्वर्गकाम। इससे पता लगे अधिकारीका विधि से सम्बन्ध होता ही है। विवरण पृ. ३९३ आदि में यह विषय द्रष्टव्य है।

१. नरत्वाभिमानिनं मनुष्यत्वाभिमानिनमिति भावः।

यच्चोक्तम् 'विरहय्य' (१-१९) इति, तदपि न सम्यगेव। तथापि तु न या काचित् क्रिया यत्र क्व चाध्याहरणीया, किं तु या यत्राभिप्रेतसम्बन्धं घटयितुं शक्नोति, आकाङ्क्षां च वाक्यस्य पूरयति, सैवाध्याहरणीया। एवंविशिष्टा च क्रिया अस्माभिरभ्युपगतैव। सा तूपादित्सितवाक्यार्थविरोधिन्येव, नाभूतार्थप्रादुर्भावफलेति। षड्भावर्[1]-विकाररहितात्मवस्तुनो निर्धूताशेषद्वैतानर्थस्य, अपराधीन्प्रकाशस्य,

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

मन्त्रेण प्रदर्श्यत इति फलितमित्याह–यस्मादित्यादिना।।९६।।

तदप्यसम्यगेवेति[2]। **अयम्भावः**–**'फलिता अमी' 'रमणीयमिदं वचनमि'त्यादावन्तरेणापि क्रियापदं वाक्यार्थप्रतीतेर्दर्शनान्न वाक्यार्थप्रतिपत्तौ क्रियापदापेक्षेति। तत्रापि, 'पश्य गच्छे'ति, वा क्रियापदं प्रयोक्तव्यमेव, तन्न प्रयुज्यते, 'द्वारं विव्रियताम्' इत्यर्थे 'द्वारमि'त्येव प्रयोगाद् इत्याशाङ्क्य; एवमपि, तत्तद्वाक्यार्थप्रतिपत्त्युपयोगिक्रियाभिधायिन एव पदस्याध्याहरणीयत्वात्, प्रवर्तकक्रियापदमेवाध्याहरणीयमिति नियन्तुमशक्यत्वाद् वेदान्तवाक्ये 'असि, असि' इति क्रियापदस्याभ्युपगतत्वान्न कश्चिद्दोष इत्याह**–तथापि त्विति। **नाभूतेति। उत्पत्तिविकृत्यादिफला एव न भवन्तीति यावत्। तत्र हेतुमाह**–षड् भावेति।

को कर्त्ता स्वीकारने वाले को ही दृष्टि में रख 'करते हुए' (ईश. २) आदि मन्त्र है, न कि अद्वितीय आत्मा को स्वीकार कर।।९६।।

जो यह कहा था कि क्रिया के बिना वाक्य नहीं हो सकता (श्लो. १९), वह भी अनुचित है। पहली बात तो यह कि क्रिया के बिना भी वाक्य हो सकता है और फिर अगर क्रिया का होना जरूरी मानें भी, तो जो कोई क्रिया जहाँ कहीं तो सम्बद्ध होगी नहीं। अभिप्रेत सम्बन्ध को स्थापित करने में समर्थ होते हुए वाक्य के तात्पर्य को पूरा करने वाली क्रिया ही वाक्य में लगेगी। इस प्रकार की क्रिया तो हम भी मानते ही हैं क्योंकि वह बताये जाने वाले वाक्य के अर्थ से विरुद्ध न होने के कारण अयथार्थ फल को उत्पन्न नहीं करेगी। पैदा होना, बने रहना, बढ़ना, बदलना, बिगड़ना और समाप्त होना—इन छहों भावविकारों से रहित, समग्र दुःखरूप अनर्थ से अस्पृष्ट, स्वयंप्रकाश

---

१. जायते, अस्ति, वर्द्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, नश्यतीति षड्भावविकाराः।

२. तदपि न सम्यगेवेति मूलम् मुद्रितपुस्तके वर्तते। क्लेशापहारिणीकारोऽत्र 'तदपि नः सम्यगेव' इति पपाठ।

विजिज्ञापयिषितत्वात् 'असि', 'अस्मि' इत्यादिक्रियापदं स्वमहिमसिद्धार्थप्रतिपादनसमर्थम् अभ्युपगन्तव्यम्, न विपरीतार्थप्रतिपादनपरमिति।

धावेदिति न दानार्थे पदं यद्वत् प्रयुज्यते।
एधीत्यादि तथा नेच्छेत् स्वतःसिद्धार्थवाचिनि ॥९७॥

न च यथोक्तवस्तुवृत्तप्रतिपादनव्यतिरेकेण तत्त्वमस्यादिवाक्यं वाक्यार्थान्तरं वक्तीति शक्यमध्यवसातुमित्याह–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

अनर्थनिवृत्यर्थमपि न क्रियाध्याहारापेक्षेत्याह–निर्धूतेति। **तत्र प्रतीत्यर्थमपेक्ष्यतामित्यत आह**–[1]अपराधीनस्येति। **उक्तमेवार्थं दृष्टान्तेनोपपादयति**–धावेदिति। **'हिरण्यं दद्याद्' इत्यस्मिन्नर्थे 'हिरण्यं धावेद्' इत्ययोग्यत्वाद् यथा न प्रयुज्यते तथा एधीत्यादि पदं[2] वृद्ध्यादिविकाररहितात्मवस्तुप्रतिपादकवाक्ये न प्रयोक्तव्यमित्यर्थः।।९७।।**

ननु तत्त्वमस्यादिवाक्यानां स्वतस्सिद्धार्थवादित्वमसिद्धं, तेषां तदहमस्मीत्युपासीतेत्युपासनाविधिपरत्वादिति? तत्राह–न चेति। **उपक्रमोपसंहारादि-**

आत्मा बताया जा रहा है। अतः उसे बताने वाले वाक्य में 'हो', 'हूँ' आदि क्रियायें माननी पड़ेंगी जो बिना दूसरे की अपेक्षा से सिद्ध होना बताती हैं। विवक्षितार्थ का विरोध करने वाली क्रिया व्यर्थ है। (द्रष्टव्य संक्षेपशारीरक १.२८०-३)

जैसे 'स्वर्ण दो' कहने के लिये 'स्वर्ण दौड़े' नहीं कहा जाता क्योंकि वैसा कहने से तात्पर्य सिद्ध नहीं होता, वैसे ही 'है'–मात्र को बतानेके प्रसङ्ग में 'होना' आदि बताने वाली क्रियाओं का प्रयोग नहीं किया जा सकता।।९७।। 'अस् भुवि' का लोण्मध्यमैकवचन में 'एधि' रूप बनता है। 'है' से भूतार्थक बोध होता है व 'होना' आदि से भव्यार्थक, यह विशेष है। आत्मा भूतवस्तु है अर्थात् हमेशा विद्यमान है, क्रियादि के फलस्वरूप होने वाली वस्तु नहीं है। उसे भूतवाचक शब्दों से समझाना ही संगत है अन्यथा उसके बारे में भ्रम ही होना स्वाभाविक है, यह तात्पर्य है।

निष्कर्मा आत्मा के स्वरूपमात्र को बताने के अतिरिक्त 'तू ब्रह्म है' आदि वाक्य

---

१. अपराधीनेतीति सुवचम्। २. आदिपदेन भवादिबोध्यम्।

तत्त्वमस्यादिवाक्यानां स्वतःसिद्धार्थबोधनात् ।
अर्थान्तरं न संद्रष्टुं शक्यते त्रिदशैरपि ॥९८॥
यस्मादेवम्–
अतः सर्वाश्रमाणां तु वाङ्मनःकायकर्मभिः ।
स्वनुष्ठितैर्न मुक्तिः स्याज्ज्ञानादेव हि सा यतः ॥९९॥
तस्माच्च कारणात् एतदप्युपपन्नम्–
स्वमनोरथसंकल्पप्तप्रज्ञाध्मातधियामतः ।
श्रोत्रियेष्वेव वाचस्ताः शोभन्ते नात्मवेदिषु ॥१००॥

॥ इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीमच्छङ्करभगवत्पादशिष्यश्रीसुरेश्वराचार्यविरचितायां नैष्कर्म्यसिद्धौ ससंबन्धोक्तौ प्रथमोऽध्यायः ॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

षड्विधलिङ्गाधिगतपरिनिष्ठितवस्तुमात्रप्रतिपादनतात्पर्यविरोधादित्यर्थः ॥९८॥

यत्पुनः पूर्ववादिनोक्तम् 'अतस्सर्वाश्रमाणाम्' इति, तत्राह–अत इति ॥९९॥

तत्र चास्माभिर्यदुक्तम् 'इति हृष्टधियाम्' इत्यादि, तदपि युक्तमेवोक्तमित्युपसंहरति–तस्माच्चेति ॥१००॥

॥ इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यज्ञानोत्तमपूज्यपादशिष्यचित्सुखमुनिविरचितायां नैष्कर्म्यसिद्धिटीकाभावतत्त्वप्रकाशिकायां प्रथमोऽध्यायः ॥

उपासना आदि कोई और अर्थ नहीं रखते। यह बात उपक्रमादि लिंगों से सिद्ध होती है तथा उपनिषद्वाक्यों के तात्पर्य निर्णायक ब्रह्मसूत्रों में विस्तार से बतायी गयी है।—**'तू ब्रह्म है' आदि वाक्यों का स्वप्रकाश आत्मा को बताने से अतिरिक्त कोई और तात्पर्य देवता भी नहीं बता सकते॥९८॥**

क्योंकि ऐसा है—**इसलिये 'वाणी, मन और शरीर द्वारा भली प्रकार किये कर्मों से सब आश्रम वाले मुक्त हो जायेंगे'** (श्लो. २१) **यह बात गलत है, कारण कि मुक्ति केवल ज्ञान से होती है॥९९॥**

अतः यह भी ठीक ही है कि—**प्रमाणादि पर अनाधारित, केवल अपने मनोरथ के अनुकूल निश्चय वालों की यह बात कि 'कर्म से मोक्ष होता है',**

कर्मकाण्डियों में ही शोभा देती है, न कि आत्मा को समझने वाले श्रीपरमहंसों में॥१००॥ अथवा यहाँ आत्मज्ञस्मरणरूप मंगल अध्यायान्त में है। अपना मनोरथरूप (अर्थात् अभीप्सित) जो योग्य निश्चय है उस अपने अकर्तृत्वात्मबोध से विकसित बुद्धि वालों का उपदेश, 'यह सब आत्मा नहीं है' ऐसा जानने वाले वेदार्थज्ञाताओं में ही सफल होता है—यह श्लोकार्थ है। इस पक्ष में 'अनात्मवेदिषु' छेद करना चाहिये।

इस प्रकार प्रथम अध्याय में विस्तार से कर्मवाद का तिलशः खण्डन कर वेदान्तवेद्य आत्मा के सफल ज्ञानकी प्रतिष्ठा कर दी गयी है।

॥ इति प्रथम अध्याय ॥

अकर्मलभ्योऽकर्मात्माऽकर्मिभिः कृतकर्मभिः ।
लब्धोऽपि लभ्यते लाभो न ततः पर उच्यते ॥

●